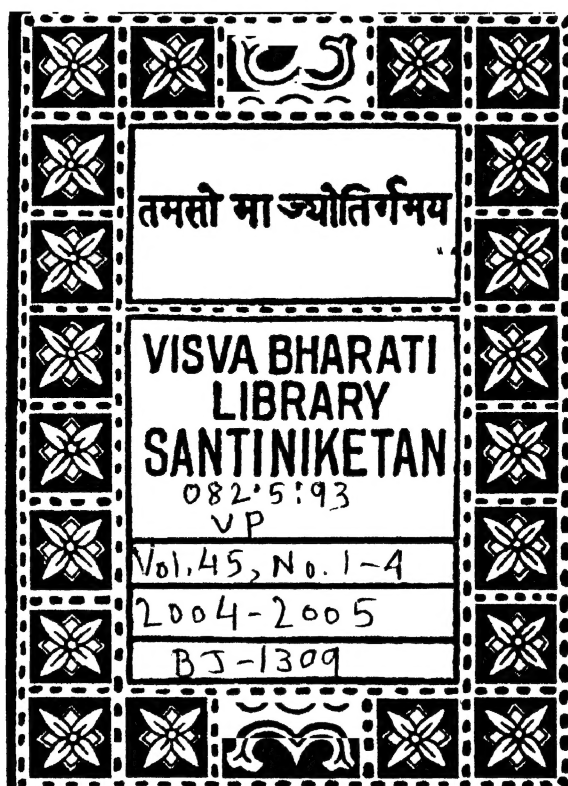
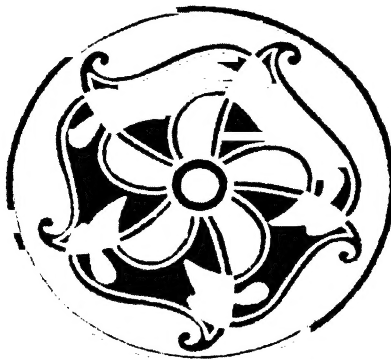


तमसो मा ज्योतिर्गमय
VISVA BHARATI
LIBRARY
SANTINIKETAN
082.5:93
VP
Vol. 45, No. 1-4
2004-2005
BJ-1309

विश्वभारती पत्रिका



सुभद्रा—जैनेन्द्र—महादेवी स्मृति अंक

सम्पादक

रामेश्वर मिश्र

खण्ड ४५ | चैत्र २०६१ - फाल्गुन २०६१
अंक १-४ | अप्रैल २००४ - मार्च २००५

विश्वभारती पत्रिका

साहित्य और संस्कृति सम्बन्धी हिन्दी त्रैमासिक



सत्यंह्येकम्। पन्थाः पुनरस्य नैकः।

अथेयं विश्वभारती। यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्। प्रयोजनम् अस्याः समासतो व्याख्यास्यामः। एष नः प्रत्ययः– सत्यंह्येकम्। पन्थाः पुनरस्य नैकः। विचित्रैरेव हि पथिभिः पुरुषा नैकदेशवासिन एकं तीर्थमुपासर्पन्ति–इति हि विज्ञायते। प्राची च प्रतीची चेति द्वे धारे विद्यायाः। द्वाभ्यामप्येताभ्याम् उपलब्धव्यमैक्यं सत्यस्याखिललोका-श्रयभूतस्य-इति नः संकल्पः। एतस्यैवैक्यस्य उपलब्धिः परमो लाभः, परमा शान्तिः, परमं च कल्याणं पुरुषस्य इति हि वयं विजानीमः। सेयमुपासनीया नो विश्वभारती विविधदेशग्रथिताभिर्विचित्रविद्याकुसुममालिका-भिरिति हि प्रच्याश्च प्रतीच्याश्चेति सर्वेऽप्युपासकाः सादरमाहूयन्ते।

विश्वभारती पत्रिका विश्वभारती, शान्तिनिकेतन के तत्त्वावधान में प्रकाशित होती है। इसलिए इसके उद्देश्य वे ही हैं जो विश्वभारती के हैं। किन्तु इसका कर्मक्षेत्र यहीं तक सीमित नहीं। सम्पादक-मण्डल उन सभी विद्वानों और कलाकारों का सहयोग आमन्त्रित करता है, जिनकी रचनाएँ और कलाकृतियाँ जाति-धर्म-निर्विशेष समस्त मानव जाति की कल्याण-बुद्धि से प्रेरित और समूची मानवीय संस्कृति को समृद्ध करती हैं। इसीलिए किसी विशेष मत या वाद के प्रति मण्डल का पक्षपात नहीं है। लेखकों के विचार-स्वातंत्र्य का मण्डल आदर करता है, परन्तु किसी व्यक्तिगत मत के लिए अपने को उत्तरदायी नहीं मानता।

आलेख तथा समीक्षार्थ पुस्तकों से सम्बन्धित समस्त प्रकार के पत्र-व्यवहार करने का पता :

सम्पादक, विश्वभारती पत्रिका (हिन्दी)
हिन्दीभवन, शान्तिनिकेतन – ७३१२३५
पश्चिम बंगाल

हलवासिया शोध ग्रन्थमाला

सम्पादकः रामेश्वर मिश्र

रायबहादुर विश्वेश्वरलाल मोतीलाल हलवासिया ट्रस्ट, कोलकाता ने ट्रस्ट के संस्थापक विश्वेश्वरलाल हलवासिया की जन्मशतवार्षिकी (सन् १९७०) के अवसर पर हिन्दी में महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित करने के लिए विश्वभारती को आर्थिक अनुदान दिया था। इस अनुदान तथा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की आर्थिक सहायता से ग्रन्थमाला का कार्य आरम्भ हुआ।इस ग्रन्थमाला के अन्तर्गत निम्नलिखित ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं:

दिव्य-प्रबन्ध-तमिल भाषा में प्रणीत वैष्णव भक्त 'अल्वारों की वाणियाँ' (तमिल वेद) आठ भागों में समाप्त। भारतीय भक्तिधारा का आकर ग्रन्थ, देवनागरी में मूल तमिल तथा प्रामाणिक हिन्दी अनुवाद। अनुवादक : पण्डित श्रीनिवास राघवन।

ग्रन्थांक-१	दिव्य-प्रबन्ध-भाग-१ सन्त विष्णुचित्त (पेरियाल्वार) की रचनाएँ	मूल्य २५ रुपये।
ग्रन्थांक-२	वज्रयानी सिद्ध सरहपाद- डॉ. द्विजराम यादव	अप्राप्य
ग्रन्थांक-३	मध्ययुगीन हिन्दी काव्य में प्रयुक्त काव्यरूढ़ियों का अध्ययन —डॉ. देवनाथ चतुर्वेदी	मूल्य ४० रुपये।
ग्रन्थांक-४	दिव्य-प्रबन्ध-भाग २, सन्त आण्डाल (गोदा), कुलशेखर, भक्तिसार, मुनिवाहन, तथा मधुर कवि की रचनाएँ	मूल्य ३५ रुपये।
ग्रन्थांक-५	दिव्य-प्रबन्ध-भाग ३, सन्त परकाल की रचनाएँ	मूल्य ४० रुपये।
ग्रन्थांक-६	दिव्य-प्रबन्ध-भाग ४, सन्त परकाल की रचनाएँ	मूल्य ४० रुपये।
ग्रन्थांक-७	इतालवी व्याकरण-इतालवी भाषा का हिन्दी में प्रथम व्याकरण -डॉ. एदमोन्दी आन्देरलीनी तथा डॉ. रामसिंह तोमर	मूल्य ७० रुपये।
ग्रन्थांक-८	दिव्य-प्रबन्ध-भाग ५, सन्त शठकोप की रचनाएँ	मूल्य ५० रुपये।
ग्रन्थांक-९	दिव्य-प्रबन्ध-भाग ६, सन्त शठकोप की रचनाएँ	मूल्य ५० रुपये।
ग्रन्थांक-१०	दिव्य-प्रबन्ध-भाग ७, सन्त कासार, सन्त भूत, सन्त वेताल तथा सन्त भक्तिसार की रचनाएँ	मूल्य ५० रुपये।
ग्रन्थांक-११	दिव्य-प्रबन्ध-भाग ८, सन्त शठकोप, सन्त परकाल तथा श्रीरंगाचार्य की रचनाएँ	मूल्य ५० रुपये।
ग्रन्थांक-१२	आधुनिक कविता में राष्ट्रीय चेतना -प्रो. ऊ जो किम (दक्षिण कोरिया)	मूल्य १५० रुपये।
ग्रन्थांक-१३	माणिक्कवाचकर, तिरुवाचकम (भाग-१)	मूल्य १२५ रुपये।
ग्रन्थांक-१४	माणिक्कवाचकर, तिरुवाचकम् (भाग-२)	मूल्य १५० रुपये।

विश्वभारती पत्रिका के प्रकाशित विशेषांक

१. महात्मा गांधी जन्मशती विशेषांक
मूल्य –३० रु.
चित्रों की संख्या -१४

२. चार्ल्स फ्रियर ऐण्ड्रूज जन्मशती विशेषांक
मूल्य — ३० रु.
चित्रों की संख्या -१३

३. मानस चतुश्शती अंक
मूल्य — ३० रु.
चित्रों की संख्या - १

४. पण्डित हजारीप्रसाद द्विवेदी स्मृति अंक (अनुपलब्ध)
मूल्य - ३० रु.
चित्रों की संख्या - ३

५. रामानन्द चट्टोपाध्याय विशेषांक
मूल्य – ३० रु.
चित्रों की संख्या -७

६. सूर-पंचशती विशेषांक
मूल्य – ३० रु.

७. रवीन्द्र-विशेषांक
मूल्य – ३० रु.

८. पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी जन्मशती विशेषांक
मूल्य – ३० रु.
चित्रों की संख्या - १७

९. मध्ययुग परिचयात्मक हलवासिया अंक
मूल्य - ३० रु.
चित्रों की संख्या -१५

ग्रन्थमाला की पुस्तकें और पत्रिका मँगवाने के लिए तथा समस्त प्रकार के व्यावसायिक पत्राचार का पता:

सचिव,विश्वभारती पत्रिका (हिन्दी)
हिन्दीभवन, शान्तिनिकेतन-७३१२३५
पश्चिम बंगाल

इस अंक के लेखक

आलपना राय	प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, बांग्ला विभाग, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन (प.बं.)
जगदीश भगत	प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन (प.बं.)
एन. पी. कुट्टन पिल्लै	१९०, स्टेट बैंक ऑफ इंडिया कॉलोनी, गांधी नगर, हैदराबाद (आं. प्र.)
मंजुरानी सिंह	प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन (प.बं.)
मुक्तेश्वरनाथ तिवारी	रीडर, हिन्दी विभाग, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन (प.बं.)
राजेन्द्र उपाध्याय	७२ ब, लॉ एपार्टमेंट, ए.जी.सी.आर. इंकलेब, दिल्ली – ११० ०९२
रामसिंह तोमर (स्व.)	पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन (प.बं.)
रोहिणी अग्रवाल	प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक (हरियाणा)
विजयबहादुर सिंह	२९, निराला नगर, दुष्यंत मार्ग, भोपाल (म. प्र.)
शकुन्तला मिश्र	रीडर, हिन्दी विभाग, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन (प.बं.)
एस. एम. इकबाल	प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, आन्ध्र विश्वविद्यालय, विशाखापट्टनम् (आं. प्र.)
हरिश्चन्द्र मिश्र	प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन (प.बं.)

विश्वभारती पत्रिका

खण्ड-४५ अंक १-४ चैत्र २०६१ - फाल्गुन २०६१ अप्रेल २००४ - मार्च २००५

विषय-सूची

रवीन्द्रनाथ–अंकित चित्र

प्रकृति चित्र ।

सुनहले आकाश की पृष्ठभूमि में पहाड़ी दृश्य ।

जल-निरोधक स्याही (waterproof ink), जल रंग

एवं कलम की स्याही द्वारा अंकित ।

चित्र में हस्ताक्षर तथा दिनांक क्रमशः रवीन्द्र, १०.१०.३६ ।

चित्र का आकार : २९.३ ´ २२.८ सेंटीमीटर ।

रवीन्द्रभवन (विश्वभारती) परिग्रहण संख्या ००.२०८९.१६ ।

चित्र परिचय : सुशोभन अधिकारी



विश्वभारती पत्रिका

खण्ड-४५, अंक १-४, चैत्र २०६१ - फाल्गुन २०६१, अप्रैल २००४ - मार्च २००५

रवीन्द्रनाथ के गीत : 'जातीय संगीत' और 'स्वदेश' पर्व से *

(१)

एक सूत्रे बाँधियाछि सहस्रटि मन,
एक कार्ये सँपियाछि सहस्र जीवन—
वन्दे मातरम्।।
आसुक सहस्र बाधा, बाधुक प्रलय,
आमरा सहस्र प्राण रहिब निर्भय—
वन्दे मातरम्।।
आमरा डराइब ना झटिका-झंझाय,
अयुत तरंग वक्षे सहिब हेलाय।
टुटे तो टुटुक एइ नश्वर जीवन,
तबु ना छिंड़िबे कभु ए दृढ़ बन्धन—
वन्दे मातरम्।।

(२)

नववर्षेर दीक्षा

नव वत्सरे करिलाम पण लब स्वदेशेर दीक्षा—
तव आश्रमे तोमार चरणे हे भारत, लब शिक्षा
परेर भूषण, परेर वसन, तेयागिब आज परेर अशन—
यदि हइ दीन ना हइब हीन, छाड़िब परेर भिक्षा।
नव वत्सरे करिलाम पण लब स्वदेशेर दीक्षा।।

* परिचय के लिए देखें, 'अपनी बात'

ना थाके प्रासाद, आछे तो कुटिर कल्याणे सुपवित्र।
ना थाके नगर, आछे तव वन फले फुले सुविचित्र।
तोमा हते यत दूरे गेछि स'रे तोमारे देखेछि तत छोटो क'रे।
काछे देखि आज हे हृदयराज, तुमि पुरातन मित्र।
हे तापस, तव पर्णकुटिर कल्याणे सुपवित्र
परेर वाक्ये तव पर हये दियेछि पेयेछि लज्जा।
तोमारे भुलिते फिरायेछि मुख, परेछि परेर सज्जा।
किछु नाहि गनि' किछु नाहि कहि' जपिछ मन्त्र अन्तरे रहि—
तव सनातन ध्यानेर आसन मोदेर अस्थिमज्जा।
परेर बुलिते तोमारे भुलिते दियेछि पेयेछि लज्जा।।

से-सकल लाज तेयागिब आज, लइब तोमार दीक्षा
तव पदतले बसिया विरले शिखिब तोमार शिक्षा।
तोमार धर्म, तोमार कर्म, तव मन्त्रेर गभीर मर्म
लइब तुलिया सकल भुलिया छाड़िया परेर भिक्षा।
तव गौरवे गरब मानिब लइब तोमार दीक्षा।।

(३)

देशेर माटि

ओ आमार देशेर माटि, तोमार' परे ठेकाइ माथा।
तोमाते विश्वमयीर, तोमाते विश्वमायेर आँचल पाता।।
तुमि मिशेछ मोर देहेर सने,
तुमि मिलेछ मोर प्राणे मने,
तोमार ओइ श्यामलबरन कोमलमूर्ति मर्मे गाँथा।।
तोमार कोले जनम आमार मरण तोमार बुके;
तोमार 'परेइ खेला आमार, दुःखे सुखे।

तुमि अन्न मुखे तुले दिले,
तुमि शीतल जल जुड़ाइले,
तुमि ये सकल-सहा सकल-बहा मातार माता।।
अनेक तोमार खेयेछि गो, अनेक नियेछि मा,
तबु जानिने-ये की वा तोमाय दियेछि मा।
आमार जनम गेल वृथा काजे,
आमि काटानु दिन घरेर माझे,
तुमि वृथा आमाय शक्ति दिले शक्तिदाता।।

हिन्दी छाया

(१)

एक सूत्र में हमने सहस्रों मन को बाँध लिया,
एक ही कार्य हमने सहस्रों जीवन को सौंप दिया—
वन्दे मातरम्।।
सहस्र बाधा आये, प्रलय हो जाय,
तो भी हम सहस्र प्राण निर्भय रहेंगे—
वन्दे मातरम्।।
हम आँधी-तूफान से नहीं डरेंगे,
वक्ष पर अयुत तरंगों को हम अनायास सह लेंगे।
यह नश्वर जीवन भले ही समाप्त हो जाय,
तो भी यह दृढ़ बन्धन कभी नहीं टूटेगा—
वन्दे मातरम्।।

(२)

नववर्ष की दीक्षा

नववर्ष में हमने स्वदेश की दीक्षा लेने का प्रण किया—
हे भारत! तुम्हारे आश्रम में तुम्हारे चरणों में बैठ कर

हम शिक्षा ग्रहण करेंगे।
दूसरों के आभूषण, दूसरों के वस्त्र, दूसरों के भोजन का
हम आज त्याग करेंगे।
दीन होने पर भी हम हीन नहीं होंगे,
दूसरों से भीख नहीं माँगेंगे।
नववर्ष में हमने स्वदेश की दीक्षा लेने का प्रण किया।

तुम्हारे पास प्रासाद नहीं है, सुपवित्र, कल्याणमय कुटिर तो है।
तुम्हारे पास नगर नहीं है, सुविचित्र फल-फूल से भरा वन तो है।
तुमसे हम जितना ही दूर हट गये हैं, तुम्हें उतना ही छोटा करके देखा है।
हे हृदयराज! आज निकट से देखने पर पता चला कि तुम पुरातन मित्र हो।
हे तापस! तुम्हारा पर्णकुटिर सुपवित्र कल्याणमय है।
दूसरों की बात पर तुमसे ग़ैर हो कर तुम्हें लज्जित किया,
ख़ुद भी लज्जित हुआ।
तुम्हें भूलने के लिए तुमसे मुख फेर लिया,
और दूसरों का साज धारण किया।
बिना कुछ विचार किये, बिना कुछ कहे,
मेरे अन्तर में रह कर मन्त्र-जाप कर रहे हो—
हमारी अस्थिमज्जा तुम्हारे सनातन ध्यान का आसन है।
दूसरों की बात पर तुमसे ग़ैर हो कर तुम्हें लज्जित किया,
ख़ुद भी लज्जित हुआ।

आज उस सारी लज्जा का त्याग करूँगा, तुमसे दीक्षा ग्रहण करूँगा।
निर्जन स्थान में तुम्हारे पदतल में बैठ कर तुम्हारी शिक्षा ग्रहण करूँगा।
तुम्हारे धर्म, तुम्हारे कर्म, तुम्हारे मन्त्र के गहरे मर्म को
सब कुछ भूल कर ग्रहण करूँगा, दूसरों से भिक्षा माँगना छोड़ दूँगा।
तुम्हारे गौरव से ही गर्वित होऊँगा, तुमसे दीक्षा ग्रहण करूँगा।

(३)

देश की माटी

हे मेरे देश की माटी, तुम्हें नमन करता हूँ।
तुममें ही विश्वमयी का, विश्वमाता का आँचल बिछा हुआ है।।
तुम मेरी देह में समाहित हो,
तुम मेरे प्राण-मन में मिल गयी हो।
तुम्हारी श्यामलवर्ण कोमलमूर्ति मेरे मर्म में गुँथ गयी है।।
हे माता, तुम्हारी गोद में मेरा जन्म हुआ है,
मृत्यु भी तुम्हारी छाती पर होगी।
सुख-दुख में तुम्हारी गोद में ही मैं खेलूँगा।
तुमने ही मेरे मुख में अन्न प्रदान किया,
तुमने शीतल जल से मेरे हृदय को तृप्त किया,
तुम सब सहने वाली, सब कुछ वहन करने वाली माता की माता हो।।
हे माता, तुम्हारा दिया हुआ बहुत कुछ खाया है, तुमसे बहुत कुछ लिया है—
तो भी हे माता, नहीं जानता कि इसके बदले तुम्हें क्या दिया!
व्यर्थ के कामों में मेरा यह जनम बीत गया
मैंने घर में ही आबद्ध हो कर दिन व्यतीत किये—
हे शक्तिदाता, तुमने व्यर्थ में ही मुझे शक्ति दी।

हिन्दी छाया : रा. मि.

रवीन्द्रनाथ के 'स्वदेशी' गीत

—आलपना राय

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में बंगाल में स्वदेश-चेतना का जो भाव क्रमशः दीप्त हो उठा था, उसका अन्यतम केन्द्र था जोड़ासाँको का ठाकुर परिवार। विदेशी शासकों के अनुग्रह के प्रत्याशी स्वदेशी शिक्षितों की कमी भी समाज में उन दिनों नहीं थी। किन्तु राजप्रभुओं की अप्रीति की सम्भावना ने इस परिवार के दो पीढ़ियों के नारी-पुरुषों को स्वदेश-भावना के प्रति विमुख न किया। परिणत वय में रवीन्द्रनाथ ने बाल्य-स्मृति के प्रसंग में लिखा है—"स्वदेश के प्रति पितृदेव की जो आन्तरिक श्रद्धा थी वह उनके जीवन के समस्त प्रकार के आन्दोलनों के बीच भी अक्षुण्ण थी, उसी ने हमारे परिवार के सबके मन में प्रबल देशप्रेम का संचार किया था। वस्तुतः वह समय स्वदेश-प्रेम का नहीं था। उस समय शिक्षितजनों ने देश के भाषा और भाव दोनों को अपने से दूर रखा था।"[१] रवीन्द्रनाथ के मझले भाई सत्येन्द्रनाथ के सहपाठी, 'नेशनल पेपर' पत्रिका के सम्पादक नवगोपाल मित्र के प्रयास से 'हिन्दुमेला' अथवा 'जातीय मेला' (१८६७) की स्थापना हुई थी; उसमें प्रमुख सहायक था ठाकुर परिवार। इस उपलक्ष्य पर सत्येन्द्रनाथ द्वारा रचित देशप्रेमोद्दीपक गीत — 'मिले सब भारत सन्तान' मेले के द्वितीय अधिवेशन (११ अप्रैल, १८६८) में गाया गया था।* राजनारायण बसु के ग्रन्थ 'हिन्दु धर्म्मेर श्रेष्ठता' की चर्चा के प्रसंग में इस गीत के सम्बन्ध में बंकिमचन्द्र ने उच्छ्वसित हो कर कहा– "इस महागीत को भारतवर्ष में सर्वत्र गाया जाय। यह हिमालय की कन्दरा में प्रतिध्वनित हो! गंगा, यमुना, सिन्धु, नर्मदा और गोदावरी के तट पर वृक्ष-वृक्ष में मर्मरित हो। पूर्व-पश्चिम सागर के गम्भीर गर्जन में मन्द्रीभूत हो! बीस करोड़ भारतवासियों का हृदययन्त्र इसके साथ बजता रहे।[२] रामनिधि गुप्त या निधुबाबू के गीत—'नानान देशेर नानान भाषा/बिना स्वदेशी भाषा पूरे कि आशा' को स्वदेश-भावना का प्रथम अंकुर माना जाय तो सत्येन्द्रनाथ का यह गीत बांग्ला भाषा में

---

* बाद में स्वयं रवीन्द्रनाथ ने भी इस गीत को सुरबद्ध किया था।

स्वदेश का प्रथम सम्मेलक जयगान या प्रथम जातीय संगीत है।

राजनारायण बसु और रवीन्द्रनाथ के नतुनदादा (सँझले भाई) ज्योतिरिन्द्रनाथ की प्रेरणा से स्थापित 'संजीवनी सभा' नामक गुप्त समिति स्वदेश-चर्चा का केन्द्र थी। उस सभा के सम्बन्ध में पचास वर्ष की उम्र में रवीन्द्रनाथ ने स्नेहपूर्ण सकौतुक मन्तव्य करते हुए उसे 'उत्तेजना की आग से परिपूर्ण' कहा।[3] हिन्दूमेला और संजीवनी सभा को केन्द्र में रख कर स्वदेशानुराग विषयक असंख्य गीत-कविता-नाटक लिखे गये; इसमें भी ठाकुर-परिवार के द्विजेन्द्रनाथ गणेन्द्रनाथ–सत्येन्द्रनाथ-ज्योतिरिन्द्रनाथ आदि अग्रणी थे। संजीवनी सभा के 'अर्वाचीन सदस्य' रवीन्द्रनाथ ने भी अपने अग्रजों के साथ इसमें योगदान किया। हिन्दूमेला के नवम् अधिवेशन (११ फरवरी, १८७५) में कवि के रूप में उनका आत्मप्रकाश हुआ ; यहाँ पठित 'हिन्दुमेलाय उपहार' कवि नामांकित प्रथम मुद्रति कविता है। कुछ अन्य लोग उनके नाम से प्रथम मुद्रित कविता 'होक भारतेर जय' को मानते हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि 'होक भारतेर जय' पंक्ति सत्येन्द्रनाथ के 'मिले सबे भारतसन्तान' से गृहीत है।

मेले के एकादश अधिवेशन के अनुष्ठान-प्रांगण में कवि ने 'दिल्ली दरबार' कविता का पाठ किया था, वहाँ उन्होंने सद्योरचित गीत भी गाये थे। वह गीत कौन सा था–इस सम्बन्ध में मतभेद है।

स्वभाव और समय की दृष्टि से विचार करने पर रवीन्द्रनाथ के स्वदेशी गीतों को प्रकाशन काल के अनुसार निम्नलिखित तीन पर्वों में विभाजित किया जा सकता है :

१. हिन्दूमेला से प्राक्-बंगभंग पर्व के गीत (२५गीत)
२. बंगभंग-प्रतिरोध पर्व के गीत (२७गीत)
३. उत्तरपर्व के गीत (१३गीत)

प्रथम पर्व में समकालीन गीतकारों की तरह रवीन्द्रनाथ के देश-गीतों का आश्रयपट भारतवर्ष है। भारत का अतीत गौरव, पराधीनता की ग्लानि, वेदना और

शौर्य, मातृरूप में देश की कल्पना और अखंड भारत-भावना इस युग के देशात्मबोधक गीतों की सामान्य विशेषताएँ हैं। रवीन्द्रनाथ के गीतों में भी स्वदेशप्रेम का यह आवेग प्रकट हुआ है, किन्तु यहाँ वेदना ही प्रधान हो गयी है। शौर्यदृष्टि या उद्दीपना प्रायः नहीं है, अंग्रेज शासकों के विरुद्ध अभियोग या विद्रोह की घोषणा भी नहीं है: दुर्भागिनी भारत-जननी की अयोग्य सन्तानों के प्रति वेदनामय धिक्कार उनके गीतों में बार-बार लौट आया है। यही वह समय है जब वे लिखते हैं— "अंग्रेजों से भिक्षा माँग कर हम सब कुछ पा सकते हैं, किन्तु आत्मनिर्भरता नहीं पा सकते। और हमें यदि वही नहीं मिली तो हम असल वस्तु ही नहीं पा सके। क्योंकि भिक्षा का फल अस्थायी है, लेकिन आत्मनिर्भरता का स्थायी। हमारी समस्त जाति का यदि यही एकमात्र कार्य हो–अंग्रेजों से निवेदन करना, उनसे भीख माँगना तो दिन-प्रतिदिन हमारी जाति का जातित्व विनष्ट होता रहेगा– क्रमशः हमें अपना आत्मत्व विसर्जित करना होगा। . . . यह सच है कि पराधीन जाति अपना समस्त हित स्वयं साधित नहीं कर सकती, किन्तु इस दिशा में यथासम्भव प्रयास करना ही हमारा पहला कर्तव्य है।"[४] रवीन्द्रनाथ के स्वदेशी गीतों में शुरू से ही आत्मबोध सजग है, परवर्ती काल में उसका परिणत रूप विविध रूपों एवं बहुस्तरीय नाना मात्राओं में दिखायी पड़ता है। आत्मशक्ति, आत्मनिर्भरता ही उनकी स्वदेश-भावना का मूल तत्त्व है।

स्वदेश के विषय में अपने अग्रजों के उत्साह और उद्दीपना से अनुप्राणित होने पर भी सत्येन्द्रनाथ के 'मिले सब भारतसन्तान' अथवा ज्योतिरिन्द्रनाथ के 'चल रे चल सबे भारतसन्तान' की तरह एक-आध व्यतिक्रम को छोड़ कर रवीन्द्रनाथ ने दृप्त गीतों की रचना नहीं की। उस काल के गीतकारों की तरह पाश्चात्य सुरों के देशात्मबोधक गीतों की रचना में भी उनका आग्रह नहीं था। रवीन्द्रनाथ के प्रथम पर्व के इस तरह के गीत मुख्यतः भारतीय राग-रागिनियों पर निर्भर हैं; जातीय भावों के गीतों में उन्होंने जातीय सुरों का आश्रय विशेष रूप से ग्रहण किया है। इस कालपर्व के गीतों में अपनी भारत-भावना के साथ उन्होंने यदि हिन्दुस्तानी मार्ग

संगीत की राग-रागिनियों को मिलाया तो बंगभंग-प्रतिरोध के गीतों को उन्होंने बंगाल के लोकसंगीत के सुरों में बाँधा। प्रारम्भिक काल में भी उन्होंने बंगाल में प्रचलित सुरों में कुछ स्वदेशी गीतों की रचना की थी। रवीन्द्रनाथ के स्वदेशमूलक गीतों में कई बार ईश्वरबोध भी जुड़ा रहता है। लेकिन यह ईश्वरबोध स्वदेश-भावना को आवृत नहीं कर लेता, बल्कि कभी भक्ति और प्रेम के वशीभूत हो, या कभी संकट से देश-जाति की मुक्ति-प्रार्थना में स्वदेश-चेतना और ईश्वर-चेतना दोनों का मिलन हो जाता है।

रवीन्द्रनाथ के स्वदेशी गीतों के प्रारम्भिक काल में जो बोध अपरिणत, अस्फुट रूप में था उसे द्वितीय पर्व में परिणततर, पूर्ण विकसित रूप मिला। बंगभंग-आदेश के आकस्मिक अभिघात से गीतों के भाव और उसकी भाषा बदल गयी। भारत-भावना के विमूर्त्त आवेश, आवेग-उच्छ्वास से घिरे स्वप्नमय जगत् से कवि प्रेम से परिपूर्ण प्राणों की धरती पर उतर आये, उनका स्वदेशबोध और गहरा हुआ। वस्तुतः यही पर्व, और अधिक निर्दिष्ट रूप से कहा जाय तो १३१२ बंगाब्द (१९०५-०६ ई.) उनके देशात्मबोधक गीतों की रचना का श्रेष्ठ समय है। अत्यन्त अल्प समय में एक गुच्छ (सत्ताईस) गीतों की रचना हुई।

स्वदेशी युग में रवीन्द्रनाथ की देशवन्दना में बंकिम-प्रवर्तित मन्त्रगाथा 'वन्दे मातरम'* को एक भिन्न रूप मिला। बंकिमचन्द्र ने मातृकादेवी को देशमातृका के साथ मिला लिया था, जगत्जननी और देशजननी में कोई भेद नहीं रह गया था। नयी उम्र में मित्रों ने रवीन्द्रनाथ से ऐसे ही गीत रचने का अनुरोध किया था, किन्तु 'दुर्गामूर्ति के साथ मातृभूमि के देवीरूप को मिला कर' पूजामंडप के योग्य गीत-रचना में रवीन्द्रनाथ का आग्रह नहीं था। 'वन्दे मातरम' के प्रसंग में रवीन्द्रनाथ ने सुभाषचन्द्र वसु को एक पत्र में लिखा था– "वन्दे मातरम् गीत के केन्द्रस्थल में है दुर्गा की स्तुति, यह बात इतनी सुस्पष्ट है कि इस सम्बन्ध में तर्क नहीं किया जा सकता। बंकिम ने इस गीत में बांग्लादेश के साथ दुर्गा को एकात्म करके दिखाया

* १२८२-८३ बंगाब्द (१८७५-१८७६) में किसी समय रचित इस संगीत का प्रथम प्रकाशन 'आनन्दमठ' उपन्यास में (बंगदर्शन, १२८७ चैत्र) हुआ।

है, किन्तु स्वदेश की इस दशभुजामूर्तिरूप की पूजा को कोई मुसलमान स्वीकार नहीं कर सकता। . . . जो राष्ट्रसभा भारतवर्ष के समस्त धर्मसम्प्रदायों का मिलनक्षेत्र है वहाँ यह गीत सार्वजनीन रूप से संगत नहीं हो सकता।"[५] 'वन्दे मातरम्' अन्य धर्म के लोगों, विशेषतः इस्लाम धर्मावलम्बियों के गाने के उपयुक्त नहीं है–ऐसा मानने पर भी रवीन्द्रनाथ ने इस गीत पर मुसलमान-विद्वेष का कोई आरोप नहीं लगाया है। वरन् इस गीत के प्रथम दो स्तवक को 'National Song' के रूप में ग्रहण किया जा सकता है–ऐसा उन्होंने काँग्रेस–सभापति जवाहरलाल नेहरू को एक पत्र (२६ अक्टूबर, १९३७) में लिखा था। उसके दो दिन बाद (२८ अक्टूबर, १९३७) काँग्रेस की कार्यकारिणी समिति ने राष्ट्रीय सभा-समिति में इस गीत के केवल प्रथम दो स्तवक (प्रथम सात पंक्तियाँ) को गाने का सिद्धान्त ग्रहण किया।[६]

बंगभंग-प्रतिवादी आन्दोलन में रवीन्द्रनाथ का श्रेष्ठ अवदान है राखीबन्धन उत्सव की परिकल्पना तथा 'राखी संगीत' की रचना। दर्पित अंग्रेज शासकों द्वारा बंगभूमि द्विखंडित करने के प्रस्तावित दिन (१६ अक्टूबर, १९०५) को बंगाल के भावुकदल ने राखीबन्धन उत्सव के रूप में परिणत किया–इसके पुरोधा थे रवीन्द्रनाथ। उनके द्वारा सम्पादित नवपर्याय 'बंगदर्शन' पत्रिका में घोषणा हुई थी– "आगामी ३० आश्विन को कानून के द्वारा बांग्लादेश विभक्त होगा। किन्तु ईश्वर ने बंगालियों को विभक्त नहीं किया है, इसीका वेशेष रूप से स्मरण और प्रचार करने के लिए उस दिन को हम बंगालियों का राखीबन्धन का दिन मान कर परस्पर के हाथों में हरिद्रावर्ण का सूत्र बाँध देंगे। राखीबन्धन का मन्त्र है–'भाई-भाई एक ठाँइ'।"* विशेषज्ञों का यह मत है कि लेखक नामहीन इस आह्वानपत्र के रचयिता रवीन्द्रनाथ हैं।[७]

इस काल में (१९०५-०८) बांग्ला में देशात्मबोधक गीतों का सर्वाधिक संकलन प्रकाशित हुआ। मातृपूजा, जातीय उच्छ्वास, जातीय राखीसंगीत, वन्दे

* ठाँइ–स्थान।

मातरम्, स्वदेश संगीत, स्वदेशी संगीत, वन्दना नामक सभी संकलनों में रवीन्द्रनाथ के गीतों का प्राधान्य था। तब अविभक्त दोनों बंग में स्वदेशी शोभायात्राओं में रवीन्द्रनाथ के गीत अपरिहार्य थे, प्राणदंड से दंडित स्वदेशप्रेमियों के कंठ में ध्वनित होता था–'सार्थक जनम आमार जन्मेछि एइ देशे', ये सब ऐतिहासिक घटनाएँ हैं।[८] ज्योतिरिन्द्रनाथ द्वारा सम्पादित 'संगीत प्रकाशिका' (१९०५-०६) में बंगभंग–पर्व में रचित रवीन्द्रनाथ के स्वदेशी गीतों की स्वरलिपि लगातार प्रकाशित हुई। ज्योतिरिन्द्रनाथ के 'पुरुविक्रम' नाटक के गीत 'एकसूत्रे बाँधियाछि सहस्रटि मन' के रचयिता रवीन्द्रनाथ हैं, इस तथ्य की जानकारी भी इस पत्रिका से ही मिलती है और इस विशेष समयपर्व में उक्त गीत में टेक के रूप में 'वन्दे मातरम्' के संयोजन ने इसे एक नूतन तात्पर्य प्रदान किया।

किन्तु रवीन्द्रनाथ की देशजननी क्या केवल बंगजननी हैं? इस युग में रवीन्द्रनाथ के जातीयताबोध या स्वदेशचेतना में बंगमाता के साथ भारतजननी का बोध भी संयुक्त हुआ है। इस समय उनके निबन्धों में बंगाल के साथ बार-बार भारत-प्रसंग भी आया है– "अभी मैंने बांग्लादेश को ही अपनी आँखों के सामने रखा है।... भारतवर्ष का प्रत्येक प्रदेश यदि अपने में एक सुनिर्दिष्ट एकता की प्राप्ति कर सके, तभी परस्पर की सहयोगिता करना प्रत्येक के लिए अत्यन्त सहज होगा"।[९] भारतवर्ष से बंगभूमि को उन्होंने कभी भी विच्छिन्न कर के नहीं देखा। इस प्रसंग में जीवन के सायाह्न में (१९३९) महाजाति सदन में दिये गये उनके भाषण का स्मरण होता है:

"बंगाल ने अपने जाग्रत हृदय, मन, अपनी बुद्धि और विद्या की समस्त सम्पदा भारतवर्ष की महावेदी के तले उत्सर्ग करने के लिए ही इतिहास विधाता से दीक्षा ली है, उसकी इस मनीषीता की हम यहाँ अभ्यर्थना करते हैं। आत्मगौरव सहित समस्त भारत के साथ बंगाल का सम्बन्ध अविच्छेद रूप से रहे, आत्माभिमान की सर्वनाशी बुद्धि उसे पृथक् न करे—यह कल्याण-इच्छा यहाँ संकीर्णचित्तता से ऊर्ध्व हो कर अपनी जयध्वजा उड़ाये रखे। यह प्रार्थनामन्त्र यहाँ से युगों-युगों तक उच्छवसित होती रहे–

बाङालिर पन, बाङालिर आशा
बाङालिर काज, बाङालिर भाषा
सत्य हउक, सत्य हउक सत्य हउक हे भगवान!
बाङालिर प्राण, बाङालिर मन,
बाङालिर घरे यत भाइ बोन,
एक हउक, एक हउक, एक हउक हे भगवान!
[बंगालियो का प्रण, बंगालियों की आशा
बंगालियों का कार्य, बंगालियों की भाषा
सत्य हो, सत्य हो सत्य हो हे भगवान!
बंगालियों का प्राण, बंगालियों का मन,
बंगालियों के घर में जितने भी हों भाई बहन,
एक हों, एक हों, एक हों हे भगवान!]

इसके साथ यह बात भी जोड़नी होगी कि बंगाली की भुजाएँ भारत की भुजा को बल प्रदान करें, बंगाली की वाणी भारत की वाणी को सत्य करे, भारत की मुक्तिसाधना में बंगाली स्वैरबुद्धि से विच्छिन्न न हो कर किसी भी कारण से स्वयं को अकृतार्थ न समझे।"[१०]

बंगभंग प्रतिरोध के समय भी रवीन्द्रनाथ केवल बंगाल की संहति के लिए ही तत्पर नहीं थे, वरन् समग्र भारतवर्ष के साथ उन्होंने बंगाल के संयोग की कामना की थी। उनके स्वदेशी गीतों के प्रारम्भिक पर्व के गीत और बंगभंग आन्दोलन के दौरान लिखे गये गीतों की आराध्या वही देशजननी हैं, जहाँ भारतवर्ष और बंगभूमि एक अटूट अन्तरंग सूत्र में बँधे हुए हैं। इसी का पूर्णतम प्रकाश कुछ वर्ष बाद रचित 'हे मोर चित्त, पूण्यतीर्थे जागो रे धीरे' में दिखायी पड़ता है:

मार अभिषेके एसो एसो त्वरा, मंगलघट हयनि ये भरा
सबार-परशे-पवित्र-करा तीर्थनीरे-
आजि भारतेर महामानवेर सागरतीरे।

[माता के अभिषेक के लिए शीघ्र आओ,
सबके स्पर्श से पवित्र किये हुए तीर्थनीर द्वारा
मंगलघट भरा नहीं गया—
आज भारत के महामानव के सागरतीर पर हमें जाग्रत होना है।]

यहाँ भारतबोध के साथ विश्वबोध, विश्वचेतना भी जाग्रत हुई है। प्रसंगवश यह याद रखना समीचीन होगा कि स्वदेश के मध्य विश्वछवि का प्रथम आभास रवीन्द्रनाथ के बंगभंग-पर्व के गीतों में ही होता है, देश की मिट्टी में कवि ने 'विश्वमाता के बिछे हुए आँचल' (विश्वमायेर आँचल पाता) को देखा है।

रवीन्द्रनाथ के स्वदेशी संगीत में बंगभंग-प्रतिरोध पर्व का गीत-समूह ही निःसन्देह उनका सर्वश्रेष्ठ अर्घ्य है; केवल विशेष उपलक्ष्य में जनमानस को उद्‌बुद्ध करने या एकता की भावना संचरित करने की दृष्टि से ही इनका महत्त्व नहीं है, वरन् सामाजिक चेतना को छूते हुए भी ये गीत चिरकालीन देशप्रेम के गीत हो उठे हैं।

बंगभंग के प्रतिवाद में रवीन्द्रनाथ अग्रणी हुए थे। सभासमितियों में उन्होंने भाषण दिये थे, शोभायात्राओं में नेतृत्व किया था। फिर भी बम और बॉयकॉट के आन्दोलन की ओर से शीघ्र ही उनका उत्साह समाप्त हो गया। उन्होंने स्वदेशी समाज के गठन का आह्वान किया था, जातीय शिक्षा आन्दोलन से स्वेच्छापूर्वक युक्त हुए थे, राखीबन्धन उत्सव का प्रवर्तन किया था, लेकिन अब उन्होंने इन सबसे अपने को अलग कर लिया। लेकिन आन्दोलन से अपने को अलग कर लेने का अर्थ यह नहीं है कि स्वदेश के विषय में उनकी भावना या रचना थम गयी; अब उनकी स्वदेश-भावना का सृजनक्षेत्र भिन्न प्रकार का हो गया। १९०५-०६ के बाद रचित जिन तेरह गीतों को रवीन्द्रनाथ ने स्वदेशी संगीत के अन्तर्गत स्थान दिया है उनमें 'हे मोर चित्त पुण्यतीर्थे जागो रे धीरे', 'जनगणमन अधिनायक जय हे' और 'देश देश नन्दित करि मन्द्रित तव भेरी' को छोड़ कर अन्य गीतों को देशप्रेम के गीत के रूप में स्वीकार करने में किसी-किसी को द्विधा हो सकती है, क्योंकि देश के लिए प्रेम या उद्दीपना का बोध अथवा देश के काम में आत्मनिवेदन के संकल्प की तरह की स्वदेशी भावना के प्रत्याशित चिह्न इन गीतों में प्रबल नहीं है। इन गीतों

के रचना के उपलक्ष्य भी भिन्न प्रकार के हैं। किन्तु यह याद रखना होगा कि रवीन्द्रनाथ की स्वदेशचेतना केवल देश-वन्दना या देश के प्रति आवेगमय अभिव्यक्ति में ही नहीं है, वरन् आत्मप्रत्यय, अभियात्रा, शक्तिसंचार, भीरुता से मुक्ति, द्विधा-संशय के अवसान के संकल्प द्वारा देश को अपनी तरह से पाने के आनन्द या भविष्य की प्रत्याशा भी उनके स्वदेशबोध का ही अंग है। अतः इस दृष्टि से उनके अन्य दस गीतों को भी स्वदेशी संगीत के रूप में ग्रहण किया जा सकता है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि रवीन्द्रनाथ की मृत्यु के बाद, पचास वर्ष की उम्र में लिखित उनके गीत 'जनगणमन-अधिनायक जय हे' को स्वाधीन भारत के राष्ट्रगान के रूप में स्वीकार किया गया और सत्तर के दशक में हमारे पड़ोसी राष्ट्र बांग्लादेश ने भी उन्हीं के गीत 'आमार सोनार बांग्ला, आमि तोमाय भालोबासि' को अपने राष्ट्रगान के रूप में ग्रहण किया।

सन्दर्भ

१. जीवनस्मृति, रचनावली १७, विश्वभारती, पृ. ३४८
२. बंकिम-रचनावली २, साहित्य संसद, पृ. ८७६
३. जीवनस्मृति, पृ. ३४९
४. समाज, रचनावली ३०, विश्वभारती, पृ. १५९-६०
५. द्रष्टव्य–नेपाल मजुमदार, रवीन्द्रनाथ ओ सुभाषचन्द्र, पृ.४७
६. प्रभात कुमार मुखोपाध्याय, रवीन्द्रजीवनी, पृ. १११
७. वही, भाग २, पृ. १३९
८. चिन्मोहन सेहानवीस, रवीन्द्रनाथ ओ विप्लवी समाज, विश्वभारती, पृ.१४८-५०
९. 'स्वदेशी समाज', आत्मशक्ति, रचनावली ३, विश्वभारती, पृ. ५४१-५४२
१०. 'महाजाति-सदन' (महाजाति-सदन के शिलान्यास के उपलक्ष्य पर दिया गया भाषण, १९ आगस्त १९३९), रचनावली १३, पश्चिमबंग सरकार (जन्मशतवार्षिकी संस्करण), पृ. ३९१-९२ ।

अनुवाद : शकुन्तला मिश्र

याद रखेंगे हम कृतज्ञ भारतवासी

-विजयबहादुर सिंह

संस्कृत भाषा के वेद-उपनिषद और दर्शन ग्रन्थों के गहन-गम्भीर तत्त्व-चिन्तन की अक्षय और अमर विरासत के बावजूद गीता-पुराण आदि और 'मानस' की लोक-प्रतिष्ठा और लोकपरायणता में जायें तो यह समझते देर न लगेगी कि जन-मानस ने हजारों सालों से इन्हें अपने जीवन-प्रवाह का अविच्छिन्न हिस्सा क्यों बना रखा है? क्यों घर-घर में मानस-पाठ किया जाता है, क्यों चारों धामों से लौट श्रीमद्भागवत सुनी जाती है? क्यों प्रत्येक धर्मानुरागी परिवार सत्यनारायण व्रतकथा सुनता और पास-पड़ोस के लोगों को आमन्त्रण भेज उन्हें भी सुनने का अवसर प्रदान करता है?

इन बातों पर विचार करें तो हम भारतीयों की जीवन और कला-सम्बन्धी दृष्टि का कुछ-कुछ खुलासा हो सकता है। विश्वविख्यात कलाचिन्तक श्री आनन्द कुमार स्वामी ने ठीक ही सोचा कि भारत जैसे देश में राजनीति, कला और जीवन उस तरह अलग-अलग कभी नहीं रहे और माने गये जिस तरह पश्चिम में समझे और माने जाते हैं। यहाँ हमेशा से अतियों का विरोध होता रहा है, जीवन के मध्यमार्ग की अनुशंसा की जाती रही है और कवि निराला की पंक्ति उधार लें तो कहें कि यह विश्वास किया जाता रहा है कि सारी सृष्टि जो अलग-अलग और एक दूसरे से विपरीत और पृथक सी दिख रही है वस्तुतः एक ही चेतना के तार से बँधी हुई है- 'जग का एक देखा तार / कण्ठ अगणित तार सप्तक मधुर स्वर झंकार'। सृष्टि में कहीं कुछ अलग नहीं है, सब एक दूसरे से न केवल जुड़े हुए हैं, बल्कि एक भी हैं। इसलिए उसे चाहे धर्म के रास्ते समझो, चाहे दर्शन के, चाहे राजनीति के मार्फत समझो, चाहे कला और साहित्य के, उसकी एकता समझ में आयेगी। भारतीय समाज तत्त्व-रूप में अपने लिए जो कुछ निचोड़ रूप में रखता है, वह सच यही है।

इस पृष्ठभूमि पर जब हम सुभद्रा कुमारी चौहान की याद करते हैं तो एक अजीब से उल्लास से भर उठते हैं। हमें होश आता है कि वे केवल कवि (कवयित्री) नहीं हैं। मध्यदेश और प्रदेश की एक सक्रिय राजनीतिक कार्यकर्ता भी हैं। न केवल कार्यकर्ता वरन प्रभावशाली, लोकमान्य राजनेत्री भी हैं। आज़ादी के पहले तो वे ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध लड़ ही रही हैं, आज़ादी मिल जाने के बाद वे सत्ता-राजनीति के जनविरोधी रवैयों के प्रति भी मोर्चा बाँधे हुए हैं। हमारा मन होता है कि हम उन्हें फाइटर (योद्धा) कवयित्री और राजनेता (त्री) कहें। इससे कम कुछ भी कहने से सब कहा गया अधूरा रह जायेगा। अधूरा ही नहीं एकांगी भी।

उन दिनों की राजनीति और राजनेताओं के व्यक्तित्वों की याद करें तो वे सब अधिकांशतः असाधारण दिखते हैं। केवल तिलक, गोखले, गाँधी और नेहरू नहीं, आचार्य नरेन्द्र देव, जयप्रकाश नारायण, विनोबा भावे और राममनोहर लोहिया भी। डॉ. भीमराव अम्बेदकर तो अपनी जगह हैं ही। ये वे लोग हैं जो केवल जुलूसों में शामिल होकर वन्दे मातरम् कहते हुए जेल नहीं जाते। ये वो लोग हैं जो हमारे पुराने ऋषियों की तरह जीवन का कठोर संघर्ष करते हुए, उन संघर्षों के दौरान अर्जित किये गये अनुभवों को हमें अपनी भाषा के मार्फत एक धरोहर के तौर पर देते चले गये हैं। अगर कोरे राजनेता ये लोग होते तो यह देश और समाज उन्हें कब का भूल चुका होता, ये हमें याद आते हैं और याद आते रहेंगे।

इस प्रसंग में जब हम माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा नवीन या गणेश शंकर विद्यार्थी जैसे कवियों, पत्रकारों की याद करते हैं तो अचकचा उठते हैं कि ये कैसे असाधारण लोग रहे होंगे? यह बात भी मन में आती है कि सचमुच क्या हमारे अपने पुरखे ही थे ? हम क्या उन्हीं तेजस्वी स्वाभिमानी जुझारू और अपराजेय चेतना वाले पुरखों के वंशज हैं ? ये हमारे बारे में आज क्या सोचते होंगे? 'झाँसी की रानी' वाली कविता में सुभद्राजी ने लिखा है कि हम कृतज्ञ भारतवासी लोग तुम्हें कभी भूलेंगे नहीं। तुम्हारी शौर्यगाथा हमेशा हमारी स्मृतियों का सचेत हिस्सा रहेगी। हम तुम्हें हर ऐसे मौके पर याद किया करेंगे जब सत्ता की निरंकुशता बढ़ जायेगी,

देश गुलामी की ओर नये सिरे से बढ़ने लगेगा, जनजीवन त्रास और तबाही का अनुभव करने लगेगा, हम तुम से प्रेरणा लेंगे। हम तुम्हारी याद करते हुए फिर से उसी दिव्य 'तेज' को धारण करेंगे जिसे एक दिव्य योद्धा की तरह तुमने धारण किया था। आखिर हम तुम्हारे ही तो वंशज हैं।

सोचता हूँ तो यह बात मन में आती है कि सुभद्राजी तो स्वयं को उसी दिव्य, तेजस्वी विरासत और विरादरी का मानती हैं। उनके मानने का प्रत्यक्ष आधार भी दिखता है। पर हम अगर स्वयं को भी मानें तो आधार क्या है? तब भी इस निराधारता को लेकर अवसाद तो होता ही है। तबीयत बैठ जाया करती है। सोचता हूँ क्या ऐसी बैठी हुई तबीयत से सुभद्राजी ने अपनी कविताएँ लिखी होंगी? क्या एक कवि घर-परिवार की रोजमर्रा की बातों को लेकर दुनियादारी के तकाजों की चिन्ता नहीं करता जो कविता की भाषा में इतना बढ़-चढ़ कर बोलता है? क्या वह सिरे से अव्यावहारिक होता है? या फिर अपने पर आश्रित परिवार-जनों के प्रति नितान्त दायित्वहीन और दुर्व्यावहारिक? निराला ने तो 'सरोज स्मृति' में लिखा ही 'धन्ये! मैं पिता निरर्थक था।' नागार्जुन स्वयं को एक नालायक बाप कहा ही करते थे। किन्तु इन दोनों कथनों के पीछे का गहरा दर्द और मानसिक उत्ताप आज तक किसने महसूस किया? कितनों को तो यह भी नहीं मालूम कि महसूस करना होता क्या है? क्या शब्द केवल शब्द होता है? कविता केवल कविता होती है? कविता कविता के लिए, चार-छह मिनटों के भीतर सुनने-सुनाने की चीज होती है। मन बहलाने का बहाना होती है? या फिर हमारी भूल सी गयी सहज मनुष्यता की सबसे तीखी करुण या मधुर याद होती है? न केवल सतह पर दिखती मनुष्यता बल्कि अतीत, परम्परा, जातीय इतिहास की तमाम स्मृतियों को एक साथ समेट कर घटाओं सी उठ कर घिरी एक सघन याद।

यह कैसे संभव होता है कि कवि की ये स्मृतियाँ समूचे लोक की अपनी स्मृतियाँ बन जाती हैं? तो क्या कवि-मन (या चित्त)) इन स्मृतियों के दौरान व्यक्ति नहीं, समूह-चित्त में तब्दील से चुका होता है? जवाब यही है कि हाँ! कवि की भाषा

और उसमें व्याप्त अनुभवात्मक चेतना में समूचा जातीय जीवन-बोध और जीवन-व्यापार करेंट या बिजली की तरह कौंधता और व्याप्त रहता है। ऐसे ही कवि/लेखक जातीय जीवन के प्रामाणिक लेखक माने भी जाते हैं। लोक का मन न जानने वाले उसके किताबी मन के जानकार कवियों की भी एक विरादरी आज हमारे समय में मौजूद है, जो प्रायः यह चित्रित करने में लगी है कि लोक बहुत दीन-हीन, लाचार और विपन्न है। इस तरह शक्तिहीन, सामर्थ्यहीन, पददलित और पौरुष-हीन है। यह विरादरी आज़ादी से पहले के अपने इन पुरखों से न जाने क्यों यह नहीं पूछती कि जब तुमने वन्दे मातरम् का उद्घोष किया, सरफरोशी की तमन्नाएँ प्रकट कीं, हिमाद्रि तुंग शृंग और जागो फिर एक बार जैसा पौरुष-घोष किया, तब क्या तुम बुरी तरह लुट-पिट नहीं चुके थे? तुम्हारा रक्त चूस नहीं लिया गया था? हाड़-मांस भर ही बचे तब? फिर भी कवि ने यह किस ताकत से कहा–जागो फिर एक बार। पशु नहीं, शूर तुम, 'समर-सरताज'।

'समर-सरताज' वाले काव्य-पद पर ध्यान जाता है तो सोचने लगता हूँ कि कवि निराला अपने पाठकों के अवसादग्रस्त, विमुख मन को किस खूबसूरती से उत्साहित करने में लगे हैं। उसकी विमुखता को कठिन जीवन-चुनौतियों का आमना-सामना करने वाले मन–एक सन्मुख मन में बदल डालना चाहते हैं। यही बात मुझे सुभद्राजी की इस पंक्ति में अनुभव होती है- खूब लड़ी मरदानी वह तो झाँसी वाली रानी थी। कितनी चैलेंजिंग पंक्ति है, झनझना देने वाली। सोये हुए, उदास, पस्त पौरुष को झकझोर कर खड़ा कर देने वाली पंक्ति।

जरा शुरू के तीनों शब्दों पर गौर करें। पहला तो विशेषण ही है। कोई चाहे तो क्रिया-विशेषण भी कहे। पर 'लड़ी' (लड़ना) तो क्रिया है। इस लड़ने के ढंग को याद करता मन उमंग, उछाह और जोश से भर उठता है। पर जैसे ही हम तीसरे शब्द 'मरदानी' पर विचार करते हैं तो चेतना में कई बातें घूम जाती हैं जैसे कि 'मरदानगी' क्या चीज है? सुभद्राजी से ही समझना चाहें तो जो लड़ता है और पूरे मन से, जी-जान से लड़ता है, मर्द (या मरदानी) तो वही है। जिसने समझौते

कर लिये, हार मान ली, घुटने टेक दिये, वह चाहे जिस जाति, वर्ण, कुल-खानदान का हो, चाहे जिस सिंहासन, आसन या कुर्सी और 'पीठ' आदि पर, भारतीय निगाह में, कम से कम 'मर्द' तो नहीं है।

इस भारतीय निगाह (जीवन-दृष्टि) को समझने के लिए दो-चार पलों के लिए हमें गीता की तरफ जाकर कृष्ण द्वारा कहे गये अर्जुन को सम्बोधित इस संवाद को पढ़ना और समझना होगा–

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप।
(श्लोक-३, अध्याय-२)

अर्जुन का मन गिर गया है। हृदय क्षुद्र दुर्बलताओं के वशीभूत हो चुका है और कृष्ण शत्रुओं को ताप पहुँचानेवाले (परन्तप) पार्थ (वीरों को जन्म देने वाली माँ पृथा, कुन्ती) से कह रहे हैं कि धर्म–युद्ध से विमुख होना मरदानगी नहीं, नामरदी है। क्या तुम पुरुष नहीं बचे, क्लीव (कापुरुष) हो गये?

जातीय इतिहास में कवियों और लेखकों ने बार-बार यह सवाल उठाया है। इसका दूसरा मतलब यह भी है कि बार-बार ऐसी स्थितियाँ आती-जाती हैं। अगर अन्याय और अत्याचार घूम-घाम कर आते और घेर लेते हैं तो हमारी मरदानगी इनका मुकाबला करने को हर बार अलग-अलग रूपों और नामों से खड़ी भी हो उठती है। कभी उसका नाम राम होगा, कभी अर्जुन-कृष्ण आदि तो कभी वह लक्ष्मीबाई, तात्या टोपे, टीपू सुल्तान, भगतसिंह, चन्द्रशेखर आज़ाद और अशफाकउल्ला खान। कभी मंगल पांडे तो कभी बहादुरशाह जफ़र।

सुभद्राजी भले ही 'खूब' और 'लड़ी' शब्द अपनी कल्पनाओं के बलबूते पर ले आयी हों, पर 'मरदानगी' शब्द तो सीधे-सीधे लोकधारणा और उसकी परम्परा से लिया गया है। लोक सबको इस विरुद या प्रशस्ति से अलंकृत कभी नहीं करता जब तक वह इसे सचमुच अनुभव न कर ले। पर आज तक किसी एक ने भी इस शब्द पर आपत्ति नहीं की, सन्देह व्यक्त नहीं किया तो मानना पड़ेगा कि सुभद्राजी

अपनी कविता में जिन शब्दों का प्रयोग करती थीं वे कुछ उसी तरह के प्रयोग कहे जायेंगे जैसे कोई अपने इतिहास का, परम्परा का या दाय (विरासत) का प्रयोग करता है। सुभद्राजी ने इस विरासत को किताबी ढंग से हस्तगत नहीं किया होगा। किया होता तो उन सीधे-सच्चे शब्दों में आमफहम लोक-मुहावरों में इतनी अर्थ-शक्ति या आशयगर्भिता कहाँ से आ पाती?

मेरा ऐसा मानना है कि जीवन के अनुभवों की कमाई से जो शब्द अर्जित होता है, अर्थ तो सचमुच उसी में होता है। वह एक सच्चा, भरोसेमन्द शब्द होता है। चूँकि वह जान पर खेल कर पाया हुआ शब्द होता है, इसलिए उसमें एक 'पवित्र आँच' और 'दिव्य प्रकाश' निवास करता है। फिर वह कवि का निजी शब्द माना भी नहीं जाता। सबका हो चुका होता है। उसकी जानी-पहचानी व्याकरणिक ध्वनियाँ लोक के आशयों और संघर्षों की आग में इतनी तप चुकी होती हैं कि वे ध्वनियाँ कम, जीवन का अमर संगीत ज्यादा महसूस होती हैं। अब 'खूब लड़ी मरदानी वह तो झाँसीवाली रानी थी' ये भी कोई ऐसा भारी-भरकम, तत्समगर्भी अभिजात सा दिखने वाला वाक्य (काव्य-पद) कहाँ हुआ? फिर जरा 'रानी' शब्द पर भी ग़ौर करें। इस कविता में आ गया है तो बचा रह सका नहीं तो बचाये भी न बच पाता। राजा-रानी के दिन गये। पर जैसे ही यह झाँसीवाली रानी के साथ आता है हमारी श्रद्धा उमड़ पड़ती है। हमारे भीतर एक आस्था उपजाती है। कवि (कवयित्री) ने इस शब्द को कैसी गम्भीर अर्थवत्ता और कालजयिता दे दी है।

यह कवि ही है जिसे शब्दों का प्रजापति कहा गया है। वह मनीषी है। वह स्वयंभू है। वह किसी के बनाये से नहीं बनता। मिटाना चाहे कोई तो ऐसा कवि कभी मिटता भी नहीं। क्योंकि उसे लोक ने सिरजा है। वही लोक जिसे जनता-जनार्दन कहते हैं।

यह भी कम विचार करने की बात नहीं है कि मध्यकालीन भारत से लेकर हमारे अपने समयों तक जिसे महान कविता कहा और माना जाता है, वह सब की सब अभिजात काव्य-शैली में नहीं है। लोक की काव्य-भाषा, बोल-चाल, मुहावरों,

शब्द-रूपों का उसमें भारी योगदान है। आज किसी में यह साहस नहीं कि वह कबीर-सूर-तुलसी से यह पूछे कि उन्होंने संस्कृत के तत्सम रूपों के तद्भव रूपों को क्यों पसन्द किया? सूर और तुलसी तो संस्कृतज्ञ भी थे। फिर भी उसके अलावा फारसीदाँ मीर और ग़ालिब से कोई क्यों नहीं पूछ पाता कि मियां! इतनी फारसी जानते हुए भी तुम रेख़्तागोई में क्यों रमने चले आये? इससे एक सिद्धान्त तो प्रतिपादित हो सकता है कि लोक की कविता तो लोक की ज़ुबान में ही संभव होगी। और यह वह लोक होगा जिसमें पंडित-अपंडित, आचार्य-अनाचार्य, कारीगर, शिल्पी और किसान के साथ-साथ पत्रकार, प्राध्यापक, डॉक्टर, वकील, इंजीनियर वैज्ञानिक और सांसद-विधायक सब शामिल होंगे। वे धरती, आकाश, ऋतुएँ वनस्पतियाँ भी जिनके बगैर इस लोक की कल्पना असंभव होगी।

सुभद्राजी इसी लोक-समाज की कवयित्री भी हैं। सच्चा कवि इसी लोक की चेतना की सुगन्धों का पर्याय होता है। दुष्यन्त जैसे कवि जब यह पंक्ति लिखते हैं– 'मुझमें रहते हैं करोड़ों लोग चुप कैसे रहूँ', तो उसका सार यही है कि कवि का विधाता तो यही लोक है। वही उसे पालता-पोसता है, वही उसे निगाह देता है, संवेदना भी देता है और भावाभिव्यक्ति और भाषा की विरासत भी। ऐसे भी कवि होते हैं जो काव्य-पंडितों और काव्य-शास्त्रों की उपज होते हैं। रीतिकाव्य में ऐसे उदाहरण ढेरों हैं। कई एक तो काफी बड़े उदाहरण हैं। इन्हें पढ़ते हुए यह भी लगता है कि यह कवि कितना पढ़ा-लिखा और चतुर कवि है। फिर भी उसे न जाने क्यों उस तरह पढ़ने का मन नहीं करता जिस तरह हम सूर-तुलसी या मीरा-कबीर या फिर मीरो-ग़ालिब की शायरी को पढ़ते हैं। ये कवि हमें अपने लगते हैं, हमारी बातों को अपनी ज़ुबानों में सिर्फ कहते हुए से। हमने अनुभव किया और इन्होंने कह डाला। हमारे सोचने में एक बात आयी और इन्होंने उसे भाषा में साकार कर डाला। न कि रीतिकालीन उस्ताद कवियों की तरह दिमाग को अनावश्यक दूरी तक खोद-खाद कर एक ऐसी चीज निकाल लाये जिस पर या तो अचकचाया जा सके या फिर यह सोचने पर मजबूर हुआ जा सके कि कविता कोई दूर की कौड़ी है और सबके

बूते की बात नहीं है। न सबके लिए है, न सबके वश में है।

सुभद्राजी जैसे सर्जक इसे झुठला कर रख देते हैं। उन्हें पढ़ते हुए पहला एहसास तो यही होता है कि कविता सबकी चीज है। जिसके पास दिल (मन) है, उसकी अपनी भाषा है, जो अपने समाज के साथ रचा-पचा है, उसी के सुख-दुख में डूबा है, उसके लिए कविता जीवन की साँस है। वह उसी में जीता-मरता है। समाज और देश उसके इस जीने-मरने में उसके साथ ऐसे शामिल रहता है जैसे कि बारात या शवयात्रा में शामिल होता है।

सुभद्राजी ऐसी ही कवयित्री हैं। मेरा मन होता है कि मैं तमाम प्रगतिशील, आधुनिक, अत्याधुनिक और समकालीन फैशनों, मुहावरों को दरकिनार कर इनके प्रति बेख़ौफ हो, कहूँ कि वे एक क्षत्राणी कवयित्री थीं और हैं। पर यह मैं उन्हें क्षत्रिय जाति में पैदा होने के चलते नहीं कह रहा। कौन किस जाति में पैदा हो जायेगा, कैसे कहा जा सकता है। इतनी सारी वैज्ञानिक प्रगति के बावजूद इसे नियन्त्रित अब तक तो नहीं ही किया जा सका है। सुभद्राजी, कबीर-रैदास आदि की तरह कहीं किसी अन्य जाति और अन्य ढंग से पैदा हुई होतीं और सुभद्राजी न बन पातीं तो क्या फर्क पड़ता। इसलिए जब मैं उन्हें क्षत्राणी कवयित्री कह रहा हूँ तो सिर्फ एक पारम्परिक और खूब पुराना शब्द उनके विशेषण के तौर पर ले रहा हूँ।

इस शब्द को लेने में मेरी हिम्मत के पीछे पं. रामचन्द्र शुक्ल जरूर हैं। वे तो सब कवियों की जाति जरूर लिखते हैं। चिन्तामणि में तो उन्होंने किन्तु इन वर्णों और जातियों के गुणवाची अर्थों पर जोर देते हुए 'क्षात्रधर्म' को पुनर्परिभाषित किया है। वे लिखते हैं-'जनता के सम्पूर्ण जीवन को स्पर्श करने वाला क्षात्रधर्म है। क्षात्रधर्म के इसी व्यापकत्व के कारण हमारे मुख्य अवतार राम और कृष्ण क्षत्रिय हैं। क्षात्र-धर्म ऐकान्तिक नहीं है। उसका सम्बन्ध लोकरक्षा से है।'

अब इस आधार और तर्क पर हमें हिन्दीभाषी समाज और उसके पाठकों को यह समझाने की जरूरत नहीं कि न केवल उनकी कविता बल्कि उनकी समूची जिन्दगी भी इसी लोकरक्षा का यथार्थ बनी हुई थी? वे जेल क्यों जाती थीं? गांधीजी

की हत्या के बाद नर्मदा में प्रवाहित की जाने वाली उनकी अस्थियों के विसर्जन समारोह में दलितों और पिछड़ों के समूह के साथ ही क्यों शामिल होना चाहती थीं, इन बातों पर सोचें या फिर रोजमर्रा के उनके उन व्यवहारों पर जिनमें कभी किसी गर्भवती कुमारी को आश्रय देने का प्रसंग हो या फिर आस-पास होने वाले अन्यायों के प्रति सार्थक प्रतिरोध का सवाल, ये सब मुद्दे उसी लोकरक्षा से जुड़े हुए थे, जिनकी तरफ शुक्ल जी का इशारा है।

लोकरक्षा एक व्यापक और विराट अर्थ देने वाला शब्द है। जब हम किसी का आकाश प्रदूषित कर उसका जीना दूभर कर देते हैं, अपने भयावह वैज्ञानिक प्रयोगों के चलते समुद्र दूषित कर डालते हैं, जब धरती की सहज उर्वरता का अपने किन्हीं मनमाने प्रयोगों के चलते नष्ट कर डालते हैं तब भी लोक का ध्वंस और विनाश ही करते हैं। लेकिन जब किसी से उसकी आज़ादी छीन उसे गुलाम बनाते हैं, जरूरत की जरूरी चीजों को मुहैया करने वाले बाजारों को महँगा कर देते हैं, विकास और प्रगति के बहाने से आबादियों को उनकी अपनी पुस्तैनी बस्तियों से उजाड़कर बसाने का नाटक करते हैं तब भी लोकरक्षा का प्रश्न ज्वलन्त हो उठता है। साँस लेना, शुद्ध पानी और स्वास्थ्यप्रद भोजन आदि का प्रश्न भी इसी से जुड़ा है। सीधी बात यह कि लोकरक्षा से मतलब जीव-मात्र के सहज जीवन-व्यापार की रक्षा से है। मानव-समाजों की स्वाधीनता और स्वतन्त्रता का प्रश्न भी उन्हीं में से एक है। गांधी यही कर रहे थे। माखनलाल चतुर्वेदी भी यही कर रहे थे। कोइ भी सच्चा इंसान अगर वह सचेत है तो यही करता है। सुभद्राजी भी यही कर रही थीं। इसलिए वे दुहरे अर्थों में क्षत्राणी थीं। पहले तो इस अर्थ जिसमें इस देश के लोगों की आज़ादी और स्वाधीनता का प्रश्न सर्वोपरि था। दूसरे इस अर्थ में कि वे ऐसी कविताएँ लिख रही थीं जिनमें आत्मा का अभय उजाला और जोश (उत्साह) की चिनगारियाँ भरी हुई थीं। केवल 'खूब लड़ी मरदानी' वाली कविता नहीं 'वीरों का कैसा हो वसन्त' वाली कविता भी ध्यान की माँग करती है।

जालियाँवाला बाग का सामूहिक नरसंहार घटित हो चुका है। देश ने एक

दर्दनाक हादसा झेला है। फिर भी कवयित्री का मन पराजित अनुभव नहीं कर रहा। ठीक वैसे ही जैसे जालियाँवाला बाग की मिट्टी की कसम खाने वाले भगत सिंह का। शहीदे-आज़म जितने गुस्से और जोश में हैं, उनके साथी जिस क्रान्तिकारी आभियान में लग चुके हैं, उससे यह कहाँ साबित होता है कि देश की चेतना हार मान चुकी है। लोग घुटने टेक चुके हैं। और क्या यही अनुभूति 'वीरों का कैसा हो वसन्त' कविता की प्रतीति बनकर नहीं फूट पड़ी है। क्या यही हृदयेन अपराजितः का सच नहीं है? क्षत्रिय का लक्षण यही अपराजेयता है। सुभद्राजी ने इस अपराजेयता को इन दोनों रचनाओं में जिस कौशल से भरा है, वह असाधारण है, अद्वितीय भी। जवानी के अद्भुत जोश से भरी ये कृतियाँ आज भी अपने प्रभाव के जादू में अपूर्व हैं। ये हममें झनझनाहट पैदा करती हैं। हमारी रगों में दौड़ता खून बाहर आने की आकुलता से भर उठता है। यही तो इनके शिल्प की खूबसूरती और सिद्धि है।

शास्त्रीय अर्थों में कुछ आलोचक इन्हें वीरगीत (ballad) कहकर छुट्टी पा लेंगे। इससे यह ध्वनित होगा कि सुभद्राजी के पास नये काव्य-प्रकारों तक, नयी काव्य-शैलियों को आजमाने की कूवत नहीं थी। पर ऐसा नहीं है। प्रश्न कवि-स्वभाव का है। वे काव्य-कला की विशिष्टता और अद्वितीयता को वरीयता देनेवाली कवयित्री थीं ही नहीं। उनकी मुख्य समस्या अपनी बात को बगैर कोइ नमक-मिर्च लगाये जल्दी से लोगों तक पहुँचाने की थी। आज यह साबित करने की भी जरूरत नहीं कि वह बात या वे बातें पहुँचीं या नहीं? कल संभव है चालीस से साठ के बीच लिखी ढेर सारी लोक-लुभावनी कविताएँ विस्मृत कर दी जायँ, बच्चन की अति लोकप्रिय कविता 'मधुशाला' भुला दी जाय किन्तु 'झाँसी की रानी' कविता अमर श्रद्धांजलि के रूप में हमारे पास रहेगी। भले ही इसका शैली-पक्ष वीरगीत वाला हो किन्तु इसका वस्तु-पक्ष तो एक हद तक शोकग्रस्तता की छायाएँ लिए हुए है। रानी की बलिदान-गाथा है इसमें। 'जाओ रानी याद रखेंगे हम कृतज्ञ भारतवासी' में ऐतिहासिक श्रद्धांजलि का भाव है।

गौर करने की बात यह भी है कि इसकी बुनावट उन पारम्परिक चारण-

काव्यों की सी नहीं है जिनमें बहुत शास्त्रीय ताम-झाम अतिशयोक्तिबहुलता और चमत्कारप्रियता होती है। या फिर तरह-तरह की बहुरंगता और किसिम-किसिम की सजावट। अपने पूरे शिल्प-विन्यास में यह इतिहास की जानी-पहचानी सच्चाई और लोक-जीवन की गहरी सादगी लिये हुए है। शायद ऐसी ही कविताओं को देख आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी कह उठे हों, कविता सीधी हो, सादी हो और जोश से भरी हो। या फिर सुभद्राजी ने द्विवेदीजी की मंशाओं के हिसाब से इसका शिल्प खड़ा किया हो।

जो भी हो, पर इसमें एक बेरोक-टोक भाव-प्रवाह और दुर्दम जिजीविषा का उफान लहरें लेता अनुभव होता है। यह उफान उस राष्ट्रीय आन्दोलन का भी है, सुभद्राजी जिसकी एक प्रमुख नेत्री थीं। इसमें उसी जनभाषा की सुगन्ध है जिसमें वह मुक्ति-संग्राम लड़ा जा रहा था। यह वह भाषा थी जिसे अलग से रचने और गाँठने की जरूरत नहीं थी। वह पहले से रची-रचायी और गाँठी हुई थी। कवि ने सिर्फ उसे अपने काम भर उठा लिया है। कहते हैं यही तो मध्यप्रदेश के कवियों की कहन शैली थी।

तथ्य और भाव को यह कविता जिस तरह गूँथती है, उससे यह विश्वास और पुख़्ता हो उठता है कि इतिहास कविता का, कलाओं के सृजन का एक अक्षय स्रोत है। कलाएँ उसे धीरे-धीरे नये-पुराने पुराण में बदलती चली जाती हैं। कल जब कोई कवि इसमें अपनी कुछ और कल्पनाओं को जोड़कर लिखेगा तब इतिहास के तथ्य पुराण-कला की चमक से चमकते नज़र आयेंगे। सुभद्रा जी ने राह दिखा दी है।

वे अपने समय के रचनाकारों के बीच उस महान छायावाद से भी अविचलित रहीं जिसके कवियों में प्रसाद-निराला आदि आते हैं। वे स्वाधीन थीं और स्वाधीन बनी रहीं। उनकी भावुकता का क्षेत्र नीम का पेड़ भी था, बचपन भी और भारतीय स्त्री भी। वह अछूत स्त्री भी जो कहने को हिन्दू तो थी पर मन्दिर के देवता के पास अछूत होने के कारण प्रवेश-वर्जिता थी। अगर उनकी कहानियाँ देखें तो

वहाँ हिन्दू-मुसलिम के टूटते-बनते विश्वास, कैदी जीवन की परेशानियाँ, ब्रिटिश राज के षड्यन्त्र और उसके लोक-विरोधी रवैये चित्रित हैं। इस समूचे लेखन में वे एक अति सजग, अति संवेदनशील, अति उदार और आस्थाशील, मुक्तिसंघर्षी और मुक्तिकामी रचनाकार के रूप में बार-बार हमारी संवेदनाओं का हिस्सा बनती हैं। उनको पढ़ते हुए हम लेखक इस नसीहत से चाहे-अनचाहे गुजरते हैं कि सर्जक की पहचान उसकी संवेदनाओं के चरित्र से की जानी चाहिए।

भारत के मुक्तिसंग्राम में जो छवि रानी झाँसी की है, हिन्दी की जुझारू जातीय खड़ीबोली कविता में वही छवि सुभद्रा कुमारी चौहान की है। वे हिन्दी कविता की झाँसी की रानी हैं। जो तेज झाँसी की रानी में था वही तेज सुभद्राजी ने हिन्दी कविता को दिया। हम सब उनके इस देय के प्रति ऋणी रहेंगे और उनके प्रति हमेशा अपनी कृतज्ञता प्रकट करते रहेंगे।

सुभद्रा कुमारी चौहान : सार्थक रचनाकार

—हरिश्चन्द्र मिश्र

१६ अगस्त १९०४ में जन्मीं और १५ फरवरी १९४८ में जीवन-यात्रा पूर्ण करने वाली सुभद्राजी अपनी ४४ वर्ष की छोटी अवस्था में जीवन की तलाश सार्थक लक्ष्य की तलाश से आरम्भ करती हैं। ९ वर्ष की अवस्था में ही 'नीम' जैसे उपयोगी वृक्ष पर उन्होंने कविता लिखी जो प्रसिद्ध पत्रिका 'मर्यादा' में प्रकाशित हुई—

"तब तक हमारे देश में तुम सर्वदा फूलो फलो।
निज वायु शीतल से पथिक जन का हृदय शीतल करो।"

निश्चय ही बालिका मन का यह काव्य-भ्रूण एक व्यापक मानव-जीवन में उसी व्यापक जीवन के लिए प्रकृति की सार्थकता की तलाश करता है। उन्हें रचना की जो जमीन मिली वह प्रौढ़ता और विस्तार ही पाती गयी। यही वह जमीन है जो रचना के उस कल्पनालोकचारी, श्लिष्ट काव्य-बिम्बों की तलाश तथा स्वप्निल जीवन सौन्दर्य को रूप देने वाले काल में अपनी सादगी, स्वाभाविक सहजता और सरलता की विशेषता से आविष्ट होती है। यही कारण है कि उनके काव्य में स्वच्छन्दतावाद और राष्ट्रीयचेतना का परिप्रेक्ष्य दिखायी देता है।

अपने स्वभाव में हठीली, लक्ष्यपथ पर अडिग रहने वाली सुभद्रा मात्र एक महिला नहीं थीं। सब कुछ को वे प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लेतीं। महादेवी वर्मा ने अपने अन्तरंग स्मरण में बताया कि जेल जाने की क्रूरतापूर्ण कार्यवाही को वे किस प्रकार ग्रहण करतीं – "उन्होंने हँसते-हँसते ही बताया कि जेल जाते समय उन्हें इतनी अधिक फूल-मालाएँ मिल जाती थीं कि वे उन्ही का ताकिया बना लेती थीं और लेटकर पुष्पशय्या के सुख का अनुभव करती थीं।" परिवार–विछोह, कठोर यातना की इस अवस्था में आनन्द के चरम स्वरूप को तलाशना क्या उनके स्वभाव का सार्थक रूप नहीं है? निश्चय ही उनके जीवन की घटनाओं की विसंगतियाँ उनके इसी स्वभाव में रचनात्मक हो जाती हैं। एक साथ ही वह रचनाधर्मी हैं तो उसी

के साथ सांसारिक कर्म में आम आदमी की सहज स्वाभाविक भूमिका में रहती हैं। उनका एक साथ कई भूमिका में होना किसी प्रकार संकोच नहीं पैदा करता। उनकी अन्तरंग सखी महादेवी वर्मा ने स्वीकार किया है कि "उनके मानसिक जगत् में हीनता की किसी ग्रन्थि के लिए कभी अवकाश नहीं रहा। घर से बाहर बैठकर वे कोमल और ओज भरे छन्द लिखने वाले हाथों से गोबर के कंडे थापती थीं। घर के भीतर तन्मयता से आँगन लीपती थीं, बरतन माँजती थीं। . . . ऐसी कार्य में तन्मयता केवल उसी गृहिणी से सम्भव है जो अपने घर की धरती को समस्त हृदय से चाहती हो। सुभद्रा ऐसी ही गृहिणी थीं।" निश्चय ही यह सुगृहिणीपन उनकी रचनाओं में भी दिखायी देता है। श्रेष्ठ कलाकार के लिए रवीन्द्रनाथ ने इसी सुगृहिणीपन का उल्लेख किया है जो कम रेखाओं और रंगों के द्वारा बहुत कुछ रचता है। वास्तव में निर्माण से ज्यादा अनिर्माण द्वारा बहुत तक पहुँचना कलाकार का वैशिष्ट्य होता है। जैसे तोरणद्वार में जितना निर्माण होता है उससे ज्यादा अनिर्माण होता है जिससे हो कर हम गर्भगृह के सम्पूर्ण ज्ञान तक पहुँचते हैं। यही सुगृहिणीपन सुभद्रा कुमारी की रचना में बराबर मिलता है।

इन बातों के अलोक में देखें तो उनके काव्य की ऊँची से ऊँची यात्रा ममता और विश्वास में आकर पुष्ट होती है, किसी अलौकिक की तलाश में नहीं–

"सुख भरे सुनहरे बादल, रहते हैं मुझको घेरे।
विश्वास प्रेम साहस हैं, जीवन के साथी मेरे।"

तमाम विषमताओं में, वैविध्य में, कोमलता और कठोरता में जीवन की सहज स्वाभाविकता की पहचान उनकी इसी रचनात्मक शक्ति का परिणाम रही है। कैसे वे आत्मा की दार्शनिक चिन्ता को पुरुष नारी के सामाजिक अन्तर के विलोप में प्रयोग करती हैं। '. . .मनुष्य की आत्मा स्वतन्त्र है। फिर चाहे वह स्त्री शरीर के अन्दर निवास करती हो, चाहे पुरुष शरीर के अन्दर। इसी से पुरुष और स्त्री का अपना-अपना व्यक्तित्व अलग रहता है'। यह अलगाव अन्तर मात्र का निर्देशक नहीं है, अपितु अस्मिताबोध के साथ पुरुष के समानान्तर नारी मूल्यों की स्थापना का

रचनात्मक प्रयास है।

उनका व्यावहारिक जगत् का स्वभाव उनका रचना-धर्म बन जाता है, जहाँ जीवन रचना में और रचना जीवन में दोलनगति करती है। वे अति स्वतन्त्र मानसिकता वाली भारतीय नारी थीं। वे रूढ़ियों में फँस कर जीवन जीने वाली नहीं थीं और इस अपनी मनोवृत्ति की सार्थकता वे तभी समझती थीं, जब इस देश की तमाम नारियाँ इन भावों से अनुस्यूत हों। यही उनकी गतिशील चेतना की रचनात्मकता भी थी। उनकी इन सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्यात्मक चेतना के रचनात्मक परिप्रेक्ष्य को समझने-समझाने के लिए ही महादेवी वर्मा ने भी उनके उद्धरणों को उद्धृत किया है – "समाज और परिवार व्यक्ति को बन्धन में बाँधकर रखते हैं। ये बन्धन देश-कालानुसार बदलते रहते हैं और उन्हें बदलते रहना चाहिए, वरना वे व्यक्तित्व के विकास में सहायता करने के बदले बाधा पहुँचाने लगते हैं। बन्धन कितने ही अच्छे उद्देश्य से क्यों न नियत किये गये हों, हैं तो बन्धन ही और जहाँ बन्धन हैं वहाँ असन्तोष है तथा क्रान्ति है।" वे आगे कहती हैं– "चिरप्रचलित रूढ़ियों और चिरप्रचलित विश्वासों को आघात पहुँचाने वाली हलचलों को अधर्म समझकर उनके प्रति आँख मीच लेना उचित समझते हैं किन्तु ऐसा करने से काम नहीं चलता। वह हलचल और क्रान्ति हमें झकझोरती है और बिना होश में लाये नहीं छोड़ती है।" उनकी रचनाओं, वक्तव्यों से आये इन विचारों का व्यावहारिक पक्ष उनके जीवन-व्यवहार में भी चरितार्थ होता है और वे अपनी कन्या के विवाह में कन्यादान करने से इन्कार कर देती हैं। यही नहीं उनका यह स्वभाव उस समय और उग्र हो गया जब गांधी जी के अस्थिकलश प्रवाह के समय हरिजन महिलाओं को सभा में बैठने का स्थान नहीं दिया गया। वे क्षुब्ध हुईं और उन्हें उनका प्राप्य अधिकार दिलवाया। यह थी उनकी दृढ़ता, जीवन-मूल्यों के लिए संघर्ष की निरन्तरता और उसकी रचनात्मक परिणति। हर हालत में वे वायवीय उड़ान को पसन्द नहीं करतीं। वे जमीन से जुड़ी थीं तथा धरती और धरती से जुड़ी समस्याओं से अलग वे अपनी सार्थकता नहीं समझती थीं। महादेवी जी के बयान को लें तो यह बात और पुष्ट

होती है – "एक बार बात करते-करते मृत्यु की चर्चा चल पड़ी। मैंने कहा 'मुझे तो उस लहर की-सी मृत्यु चाहिए जो तट पर दूर तक आकर चुपचाप समुद्र में लौटकर समुद्र बन जाती है।" सुभद्रा बोली– "मेरे मन में तो मरने के बाद भी धरती छोड़ने की कल्पना नहीं है। मैं चाहती हूँ मेरी एक समाधि हो, जिसके चारों और नित्य मेला लगता रहे, बच्चे खेलते रहें, स्त्रियाँ गाती रहें और कोलाहल होता रहे। अब बताओ, तुम्हीं बताओ नामधाम-रहित लहर से यह आनन्द अच्छा है या नहीं?" एक रचनाकार का यह सत्य-जगत् है, जो जीवन-प्रयोग और भाव-जगत् का रचनाकर है। दूसरी तरफ सुभद्राजी ऐसी स्वतन्त्रता सेनानी हैं जो अपनी छोटी बच्ची के साथ कारागार के जीवन को भी स्वीकार करती हैं, जहाँ उनका वात्सल्य भी अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँचता है जब वे अपनी भूखी बच्ची को एक दाल दलने वाली कैदी से दाल माँगकर पीसकर पिलाती हैं तो पूरे हृदय से अपने पति को भी प्यार देती हैं।

वैयक्तिक, पारिवारिक और सामाजिक कर्म में निरत रहते हुए उसमें मूल्यात्मक परिवर्तन करने हेतु संघर्ष करती हुई सुभद्रा राष्ट्रीयता की व्यापक जीवन-परिधि में पहुँचती हैं और भारतीय नारीजीवन 'भद्रा' नहीं 'सुभद्रा' बनकर आती है जो अर्जुन का वरण नहीं करती तो लक्ष्मण का तो वरण करती ही है, जो रावणत्व के विनाश में हमेशा राम का सहधर्मी रहा। जो हमेशा आधिपत्य नहीं, मालिकानापन नहीं, अपितु समानधर्मी सख्य ही देते रहे। रचनाकार्य में एवं जीवन-कर्म में।

सुभद्राजी की रचनात्मक एवं वैयक्तिक चेतना की ठोस मानवीय भूमिका को शमशेरजी ने व्यक्त किया है– "सुभद्राजी जनमनमयी थीं। लोकमन के अत्यन्त निकट होने के कारण तो वे बुन्देले हर बोलों के मुँह से सुनी झाँसी की रानी लक्ष्मी बाई जैसा ऐतिहासिक कथावृत्त काव्यविधा में रचती हैं। लोकगीत आल्हा की परम्परा का अनुसरण करती इस कविता का प्रभाव कालजयी है। जातीय समन्वय सूत्र समेटे प्रतिरोध और विद्रोह की भावभूमि पर आधारित इस कविता में दृढ़ता , एकनिष्ठता, त्याग और बलिदान के गुणों का वह समुच्चय है, जो व्यक्ति को व्यक्ति

की भूमिका से निकालकर समाज में बदलता है, शूरवीरता व उत्सर्ग से पूर्ण इस कथावृत्त में रानी लक्ष्मी बाई को केवल इतिहास के पन्नों तक ही उन्होंने सीमित नहीं रखा वरन् मूर्त्त कर उन्हें हमारे अत्यन्त निकट कर दिया। उनका स्वाभिमान, ओजस्वी रूप, प्रतिहिंसा, क्रोध, विवशता, देशभक्ति की अनेक समिश्र भावनाओं की निश्छल अभिव्यक्ति अत्यन्त सहज, सरल रूप में पूर्ण कलात्मकता के साथ रचना में गेय हो उठते हैं। लक्ष्मी बाई के वीरत्व के पूर्ण आवरण के सूत्र इस कविता में झाँकते नजर आते हैं, जो भारतवासियों को आत्म-विश्लेषण के लिए विवश करते हैं।" हिन्दुस्तान की प्रथम महिला सत्याग्रही का झण्डा—सत्याग्रह उनके इसी स्वभाव का प्रायोगिक पक्ष है। परिवार की कोमल संवेदनाएँ, परिवार की सीमा से बाहर निकल कर विश्वपरिवार में रचनात्मक हो जाती हैं। इसलिए वे 'राष्ट्रीय वसन्त की प्रथम कोकिला' की उपाधि पाती हैं। व्यक्तिजीवन से परिवार और वहाँ से विश्व-परिवार में उनकी रचनात्मक मेधा अपना प्रसार करती है—

"व्यथित है मेरा हृदय प्रदेश, चलूँ उसको बहलाऊँ आज,
बताकर अपना सुख-दुख उसे, हृदय का भार हटाऊँ आज।
चलूँ माँ के पद पंकज पकड़, नयन जल से नहलाऊँ आज,
मातृमंदिर में - मैंने कहा चलूँ दर्शन कर आऊँ आज।"

उनकी सारी रचनात्मकता 'मुकुल', 'त्रिधारा' जैसे कविता संग्रह और 'बिखरे मोती', 'उन्मादिनी', 'सीधे-सादे चित्र' और 'तीन बच्चे' (सम्पादन) जैसे कहानी संग्रह में दिखायी देती है।

सुभद्राजी की कविताओं में जो राष्ट्रीय चेतना की कविताएँ हैं, उनमें केवल राष्ट्रीयता है क्योंकि उनमें सारी मानवीय भावनाएँ विलयित हो जाती हैं। उनका ऋतुबोध भी राष्ट्रीय विनाश के चिह्नों में आकर मौन हो जाता है। शोकस्थान जालियाँवाला बाग में आ कर कवयित्री स्तब्ध हो जाती हैं और पूरे राष्ट्र का ऋतुराज भी स्तब्ध कर दिया जाता है। यह स्तब्धता मात्र नीरवता नहीं अपितु वेदना का राष्ट्रीय साक्षात्कार है। यही कारण है कि उनकी व्यक्तिगत आशंकाएँ भी राष्ट्रीय

परिप्रेक्ष्य को पाकर आश्वस्त होती हैं तथा गौरव के बोध तक पहुँचती हैं। उनकी कविता में यह चेतना का सोपान बना रहता है–

"गिरफ्तार होने वाले हैं। आता है वारण्ट अभी
धक्-सा हुआ हृदय, मैं सहमी। हुए विकल आशंक सभी।"

आगे कहती हैं–

"रुका वेग भावों को, दिखा, अहा, मुझे यह गौरव स्पष्ट
तिलक, लाजपत, गाँधी जी भी, बन्दी कितनी बार हुए।"

उनकी कविता लिखने की लालसा राष्ट्रीयता तक पहुँचकर निहाल हो जाती है। वे राष्ट्रीय भावना के चरमोत्कर्ष में अपनी रचनात्मकता की परिणति देखती हैं। वे पूरे देश को क्रान्तिकारी बनाना चाहती हैं, उनमें निर्भयता का संचार करना चाहती हैं। स्वायत्तता की राष्ट्रीय मूल्यवत्ता के उस युग में यही राष्ट्र-निर्माण की सार्थकता थी। तभी तो उनकी कविता अपने उद्देश्य को उद्घोषित करती है–

"जरा सी लेखनियाँ उठ पड़े। मातृ भू को गौरव से मढ़े,
करोड़ों क्रान्तिकारिणी मूर्ति। पलों में निर्भयता से गढ़े"

इस निर्माण की भूमिका में वे भारतीय नारियों के प्रति पूर्ण आश्वस्त हैं। वे जानती हैं कि यदि सही प्रयास किया जाय तो भारत की करोड़ों स्त्रियाँ देश में आमूल परिवर्तन कर सकती हैं। वे उनके 'सबला' रूप की पहचान करती हैं। उनके वास्तविक निर्माण में ही वे राष्ट्र-निर्माण की सार्थकता देखती हैं–

"पन्द्रहकोटि असहयोगिनियाँ। दहला दें, ब्रह्माण्ड सखी
भारत लक्ष्मी लौटाने को। रच दे लंका काण्ड सखी।"

यही विश्वास उनकी आशा में प्रतिफलित होता है जो सम्पूर्ण रूप से सफलता का परिणाम बन जाता है –

"आशा आलोकित करती। मेरे जीवन के प्रतिक्षण
हैं स्वर्णसूत्र से वलयित। मेरी सफलता के धन।"

इस पूरे रचनात्मक प्रयास में वे अपने और पूरे राष्ट्र के रुदन को हँसी में देखना

चाहती हैं –

"मैने हँसना सीखा है।
मैं नहीं जानती रोना।"

यह प्रसन्नता की सार्वजनीन तलाश है जिसमें व्यक्तिगत रंगरेलियाँ नहीं अपितु राष्ट्रीय मूल्यों की उपलब्धि के लिए सम्पूर्ण समर्पण अपेक्षित है। उनकी कविता का वीर राष्ट्र को समर्पित व्यक्तित्व है। यही कारण है कि 'वीरों का कैसा हो वसन्त' कविता में वे व्यक्ति और ऐसे समर्पित व्यक्तित्व जो राष्ट्रनिर्माण की भूमिका में 'वीर' की संज्ञा पाते हैं, तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य बनकर आते हैं। भारतीय चमत्कारपूर्ण प्रकृति से व्यक्तिगत आनन्द को इंगित करती कवयित्री उस वीरत्व को देखती हैं, परखती हैं और इतिहास में भी प्रमाण ढूँढ़ती हैं तथा उसी सन्दर्भ में भारतीय नागरिकों के उत्तरदायित्व की ओर भी संकेत करती हैं। साथ ही भारतीय मानव की सार्थकता को रूप देना चाहती हैं —

"वीरों का कैसा हो वसन्त?
आ रही हिमाँचल से पुकार,
है उदधि गरजता बार-बार
प्राची, पश्चिम, भू, नभ अपार,
सब पूछ रहे हैं दिग्-दिगन्त,
वीरों का कैसा हो वसन्त?"

यह केवल प्रश्न और जिज्ञासा ही नहीं है। इसमें एक राष्ट्रीय सांस्कृतिक मूल्यों की स्थापना हेतु 'मानव-निर्माण' की अपेक्षा है जिसमें सृजनशीलता अतीत से वर्तमान में, प्रकृति से जीवन में केन्द्र-अपसारी और केन्द्र-अभिमुखी गति करती है। राष्ट्रीय जीवन की मूल्यहीनता से रचनात्मक अनुभूति और रचनात्मक अनुभूति से राष्ट्रीय जीवन की परिधि में चक्रीय गति ही यहाँ मूल्यात्मक परिणति बनकर आती है। इस सन्दर्भ में वे हठीले पति-प्यार को बाधक नहीं बनाना चाहतीं। अपने राष्ट्रीय व्रतभंग की चिन्ता भी उन्हें बराबर रहती है। उस समय मैथिली शरण गुप्त की उर्मिला याद

आने लगती है जो यह कहते हुए कि 'प्रिय के व्रत में भंग न डालूँ' साथ नहीं जाती, तो यहाँ प्रिया प्रिय को साथ जेल जाने से मना कर देती है। लेकिन उनकी अपेक्षा तो यही रहती है कि—

"विजयिनी माँ के वीर सुपुत्र
पाप से असहयोग लें ठान
गुँजा डालें स्वराज की तान
और सब हो जावें बलिदान।।"

यही तो 'स्वायत्तता' की मूल्यात्मकता की अनिवार्य चेतनात्मक अपेक्षा है। सुभद्रा कुमारी चौहान ने भावोल्लास के काल में, कल्पनालोक में जीने वाले कवियों के छायावादी काल में अपनी कविता को जनता के लिए उत्सर्ग किया। यही नहीं उसे प्रेम और देशभक्ति के आवेग और आह्लाद में सराबोर कर दिया। इस पूरी प्रक्रिया में केवल जीवनोन्मुखी होना ही गुण नहीं है, बल्कि सबसे बड़ी विशेषता है, स्वाभाविक सरलता है। उन्होंने जीवन के भिन्न रूपों को, समाज की विभिन्न समस्याओं को काव्य का विषय बनाया। राष्ट्रीय आन्दोलन से लेकर नारी स्वाधीनता एवं दलित जाति के उत्थान के प्रश्न विशेष रूप से उनकी रचना में अनुस्यूत थे। उन्होंने अपनी आत्म-चेतना को व्यक्तिगत भावलोक से राष्ट्र की व्यापक परिधि में विस्तृत किया है। इस पूरी रचना-प्रक्रिया में उनकी भावाभिव्यक्ति, सौन्दर्याभिव्यंजना और शैली अपनी निजी शैली रही है। महादेवी की सखी होने पर भी उनकी अभिव्यंजना पद्धति को वे एकदम नहीं छू सकीं। मृत्यु के सन्दर्भ में महादेवी की स्मृति इस बात का प्रमाण है कि उनकी दृष्टि वस्तुवादी रही है।

सुभद्राजी केवल भावलोक में वृत्तीय गति करने वाली कवयित्री नहीं थीं। उनकी काव्य-संवेदना हमेशा जीवन का स्पर्श करती चलती है, चाहे वह पारिवारिक जीवन हो, सामाजिक जीवन हो या राष्ट्रीय जीवन पर आया बहुमुखी सांस्कृतिक मूल्यों का संकट हो। उनपर उनकी केवल अनुभूतिक संवेदना ही नहीं है अपितु प्रत्येक भूमिका में वे भागीदार बनती हैं। उसे स्वानुभूति का विषय बनाती हैं तथा

उसमें डूबकर सब को थाहती हैं। यह 'थाहना' ही उनकी रचनात्मक सहजता एवं सरलता बन जाता है। गूढ़ार्थ अभिव्यंजना नहीं। वे क्रान्ति की मात्र भाव-द्रष्टा नहीं रहीं अपितु स्वयं हव्य भी होती रहीं। याज्ञिक भी वही थीं और हव्य भी वही थीं। समाज की हर उर्जा तथा अग्नि के ताप की उष्मामापी भी वे थीं। समीपी जीवन की इसी स्पर्शजनिता के कारण उनकी रचनाएँ सबके करीब की लगती हैं। मुक्तिबोध के शब्दों में कहें तो सुभद्राजी के काव्य को हम उनकी पारिवारिकता से अलग नहीं कर सकते। इस पारिवारिकता ने ही उनके काव्य में एक विशेष प्रकार की ऋजुता और समीपता का गुण उत्पन्न किया, उसे अधिक मूर्त्तता प्रदान की –

"बहुत दिनों तक हुई प्रतीक्षा
अब रूखा व्यवहार न हो,
अजी, बोल तो लिया करो तुम
चाहे मुझपर प्यार न हो।
जरा-जरा-सी बातों पर
मत रूठो मेरे अभिमानी,
लो प्रसन्न हो जाओ, गलती
मैंने अपनी ही मानी।
मैं भूलों की भरी पिटारी
और दया के तुम आगार,
सदा दिखाई दो तुम हँसते
चाहे मुझसे करो न प्यार।"

अपनी भूलों की स्वीकृति में पारिवारिक जीवन की गतिमयता की अभिलाषा सकारात्मक भूमिका ग्रहण करती है। आँगन लीपने वाले हाथ, आटा सानने वाले हाथों के श्रम ने मन की गुदगुदी को तलाशा है। यह प्रणय के मानव-सम्बन्ध को उसके मूल्यात्मक सन्दर्भ में देखने और पाने का रचनात्मक प्रयास है। श्रमगीतों की भाँति ये कविताएँ जीवन की जीवन्तता में एकमेक होकर सार्वजनीन हो जाती हैं।

शाश्वत विछोह में अतीत का अपूर्ण समर्पण एक लम्बी कसक बनकर रचनात्मक हो जाता है। यह छायावादी 'घुल जाने की चाह' नहीं है अपितु जीवन की सार्थकता को पकड़ कर एकमेक होने की सांसारिक प्रक्रिया है –

"मैं सदा रूठती ही आई
प्रिय, मैंने तुम्हें न पहचाना;
वह मान वाण-सा चुभता है,
अब देख तुम्हारा यह जाना।"

जान-पहचान का यह लौकिक खेल चलता ही रहता है। नश्वर जगत की हँसी या आनन्द की प्राप्ति की लालसा रचना में उतरती है। मानवीय स्तर की सहज मित्रता बिल्कुल पाठक के करीब की चीज बन जाती है। यही सहजता और समीपता केवल व्यक्ति और परिवार तक न रहकर राष्ट्रव्यापी हो जाती है और कविता के व्यर्थ विषय की तलाश में राष्ट्रीय वेदना को खोजती है और विषम राष्ट्रीय वेदना तक आ कर आत्मा की सारी ऊर्जा रचना बन जाती है —

"मुझे कहा कविता लिखने को,
लिखने बैठी मैं तत्काल
पहले लिखा जालियाँ वाला
कहा कि बस हो गया निहाल।
तुम्हें और कुछ नहीं सूझता
ले-दे कर वह खूनी बाग।
रोने से अब क्या होता है,
धुल न सकेगा उसका दाग।
भूल उसे जब कुछ हो,
मैंने कहा–धरो हँसे मस्त धीर,
तुमको हँसते देख कहीं फिर
फायर करे न डायर वीर!"

वेदना की इस राष्ट्रीय सहभागिता में रचना व्यक्तिमन को ऊर्ध्व रूप देती हुई पुनः जमीन पर ही आती है और सामाजिक सम्बन्धों से राष्ट्रीयता की पहचान तक में सुभद्राजी की रचना दोलनगति करती है। कैसे राखी का एक धागा राष्ट्रीय भूमिका में व्यापक अर्थ का संधान और प्रेरक बन जाता है –

"देखा भैया, भेज रही हूँ,
तुमको-तुमको राखी आज,
राखी राजस्थान बनाकर,
रख लेना राखी की लाज।
बोलो, सोच-समझकर बोलो
क्या राखी बँधवाओगे?
भीर पड़ेगी क्या तुम रक्षा
करने दौड़े आओगे?
यदि हाँ, तो यह लो मेरी,
इस राखी को स्वीकार करो;
आकर भैया, बहन 'सुभद्रा'
के कष्टों का भार हरो।"

त्योहारी का यह उपहार भी बड़ा विचित्र है। सुभद्रा का उपहार भारत की तमाम बहनों के लिए भाई के उत्सर्ग की प्रतिश्रुति है। बस इसी प्रतिश्रुति या प्रतिबद्धता में ही तो उनकी कविता बनती रहती है। भारत के हर मनुष्य के कर्तृत्व की भूमिका की तलाश बन जाती है। यहाँ हर मनुष्य में अपनेपन की खोज होती है।

सुभद्राजी की ऊर्जस्वित कविताओं के साथ ही वात्सल्य रस की कविताएँ भी हैं जो स्वानुभूति की कविताएँ हैं। मातृ-भाव का सहज रूप, निस्पृह आनन्द और शिशुसुलभ भोलापन रूप ग्रहण करके आता है। उन्हें पढ़ते ही पाठक के हृदय पर शैशव के विविध चित्र अंकित होने लगते हैं। यह एक सच्ची माँ का वात्सल्य चित्रण है जो कभी बच्ची थी और अब माँ भी है। कुछ उदाहरणों से कविता की सार्थकता

की पहचान की जा सकती है। वह केवल भावलोक की लीला नहीं है अपितु सच्चे जीवन की लीला-खेला है।—

"दादा ने चन्दा दिखलाया,
नेत्र नीरयुक्त दमक उठे,
धुली हुई मुस्कान देखकर
सबके चेहेर चमक उठे।"

अथवा

"मैं बचपन को बुला रही थी,
बोल उठी बिटिया मेरी,
नन्दन वन-सी फूल उठी,
यह छोटी-सी कुटिया मेरी।"

इस कविता में बेटी का बालसुलभ स्वभाव व्यक्त हुआ है। यहाँ माँ यशोदा अपने मिट्टी खाने वाले कृष्ण को न मारती है और न उनके खुले हुए मुख में विश्व ब्रह्माण्ड का दर्शन ही होता है। यहाँ बच्ची का वह सहज रूप ही रूपग्रहण करता है जहाँ बच्ची अपनी खायी चीज को माँ के मुँह में डालने की चेष्टा करती है। एकदम मानवीय लगाव है माँ-बटी में। यही कारण है कि किसी प्रकार का अलौकिक रहस्य इसमें नहीं आ पाया। आया तो माँ-बेटी का मानवीय स्नेह, भाव-विभोर कर देने वाली मासूमियत 'बालिका का परिचय' तथा 'इसका रोना' कविता तक पहुँचकर वात्सल्य गीतात्मकता तक पहुँचता है।

महिला-लेखन की सशक्त राष्ट्रीय आत्मा

—एस.एम. इकबाल

आज़ादी से पहले के महिला-लेखन को दृष्टि और गति प्रदान करनेवाली श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान एक कवयित्री होने के साथ-साथ श्रेष्ठ कहानी लेखिका भी रही हैं। पूर्णायु से वंचित सुभद्राजी (१९०४-१९४८) ने पारिवारिक, सामाजिक, एवं राजनीतिक क्षेत्रों में अपने सम्पूर्ण उत्तरदायित्वों का भलीभाँति निर्वाह किया है। कर्तव्यपरायणा पत्नी, सजग एवं सहृदय साहित्यकार, कुशल राजनीतिज्ञ एवं एक राष्ट्र-प्रेमी के रूप में आप की सेवाएँ अविस्मरणीय हैं। जीवन के मधुरतम एवं विलक्षण क्षणों को मानवीय दृष्टि से लिपिबद्ध कर राष्ट्रीयता की आत्मा को उसमें अंतःसलिला की भाँति प्रवाहमान करने की कला में सुभद्राजी अत्यन्त प्रवीण साबित हुई हैं। देश के स्वतन्त्रता आन्दोलन में भाग लेनेवाली पहली महिला-सत्याग्रही बनकर, कई बार जेल जाकर, आपने अन्दर की चेतना-स्फूर्ति को साकार रूप दिया है। कांग्रेस की ओर से प्रान्तीय धारासभा की सदस्या के रूप में दो बार निर्वाचित होकर सच्ची समाजसेविका सिद्ध हुईं। राजनीति और साहित्य को अपनी दो आँखें माननेवाली सुभद्राजी देश की और हिन्दी साहित्य जगत् की एक गौरवमयी हस्ताक्षर बनीं।

आज़ादी की लड़ाई के दौरान सन् १९२७ ई.में साइमन कमीशन की घोषणा हुई। सन् १९२८ ई. में किसानों का अहिंसात्मक विद्रोह और युवा पीढ़ी का आन्दोलन होने लगा। जर्जर होती देश की अर्थ-व्यवस्था तथा राजनीतिक क्षेत्र के उथल-पुथल के कारण समाज के निम्न और मध्यवर्ग के लोगों में जागृति आयी। समाज की विद्रोही भावनाओं को सजग साहित्यकारों ने प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में वाणी दी। दूसरी ओर नारी की स्थिति में सुधार लाने के उद्देश्य से समाजसुधारकों ने स्त्रीशिक्षा एवं विधवा-विवाह का समर्थन कर छुआछूत, बाल-विवाह, सती-प्रथा जैसी कुप्रथाओं का खंडन करने के लिए कमर कस ली। स्वयं महिलाओं ने भी

इसके लिए कलम चलायी। ऐसी ही राष्ट्रीय चेतना लिए, सुभद्राजी ने राजनीति एवं साहित्य के क्षेत्र में पदार्पण किया।

सुभद्राजी ने नारी समस्याओं को, ग्रामीण जीवन की विषमताओं को, राजनीतिक उथल-पुथल को तथा पारिवारिक विषयों को, अपनी रचनाओं का इतिवृत्त बनाया। महिला-लेखन को प्रोत्साहित करने की दृष्टि से 'चाँद', 'कर्मवीर' तथा 'माधुरी' जैसी पत्रिकाएँ सामने आयीं। 'चाँद' पत्रिका के नवंबर, १९२२ के अंक में सम्पादकीय टिप्पणी में यह कहा गया कि– "आज हम 'चाँद' को इस देश की स्त्रियों के चरणों में अर्पण करते हैं कि वे इस बालक से जिस प्रकार उचित सेवा लेना चाहें लें।" इस निमन्त्रण का लाभ उठाकर लेखिकाएँ खुलकर कविताएँ तथा कहानियाँ लिखने लगीं। इनमें मुन्नी देवी भार्गव, चन्द्रप्रभा देवी मेहरोत्रा, विमलादेवी चौधरानी, विद्यावती, शारदा कुमारी, राजरानी देवी, सरस्वती वर्मा, शिवरानी प्रेमचन्द, उषादेवी मित्रा आदि के नाम उल्लेख्य हैं। इसी कड़ी में सुभद्रा कुमारी चौहान का नाम भी लिया जाता है, जिन्होंने कविता एवं कहानी के क्षेत्र में गुण एवं राशि की दृष्टि से साहित्य की श्रीवृद्धि की। इसमें दो मत नहीं है कि सुभद्राजी ने गांधीजी की पुकार पर देश-प्रेम, ग्रामीणोद्धार, अछूतोद्धार, स्त्रीशिक्षा का समर्थन, जैसे विषयों को अपनी रचनाओं के लिए चुना और एक तटस्थ दृष्टि को न अपना कर प्रतिबद्धता के साथ साहित्यकार के उत्तरदायित्व को बखूबी निभाया। भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता की गरिमा को बनाये रखते हुए, पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव के कारण होने वाले नैतिक आदर्शों एवं मूल्यों के विघटन की ओर संकेत किया। रचनाओं में राष्ट्र-प्रेम के अलावा पारिवारिक जीवन की सरस-विरस चेष्टाओं को, सम्बन्धों की बारीकियों को, समाज के दलित एवं मज़दूरों की समस्याओं को मानवीय दृष्टि से चित्रित किया है। आप की साहित्यिक प्रतिभा के प्रमाण में तीन कविता संग्रह, तीन कहानी-संग्रह एवं कुछ फुटकल लेख प्रकाशित हैं। पुरुष प्रतिष्ठित साहित्य जगत् में महिला-लेखन की प्रविष्टि से पाठकों की रुचि को उजागर करने में सहायता मिली।

कवयित्री सुभद्रा कुमारी चौहान

सुभद्राजी में बाल्यकाल से ही कविता करने की प्रवृत्ति मुखरित होने पर भी पूर्ण-रूपेण साहित्य-लेखन का प्रौढ़ एवं प्रांजल रूप १९२०-२१ से ही शुरू हुआ। 'कर्मवीर' पत्रिका में सर्वप्रथम आपकी कविता का प्रकाशन हुआ। तब से १९४८ में मोटर दुर्घटना में आपका निधन होने तक यानी लगभग २७ साल की सक्रिय लेखनी से निःसृत आपकी कविताओं के तीन संग्रह हैं– 'त्रिधारा', 'मुकुल' तथा 'सभा के खेल'। 'त्रिधारा' में सुभद्राजी की कविताओं के अलावा अन्य दो कवियों की रचनाएँ भी संकलित हैं। आपकी ३९ कविताओं का संकलन 'मुकुल' अखिल भारतीय साहित्य सम्मेलन के सेक्सरिया पुरस्कार से पुरस्कृत है। इसमें संकलित कविताओं में राष्ट्रीय भावना, प्रणय-भावना तथा वात्सल्य-भावना की प्रधानता है। देशभक्ति को मुखरित करनेवाली कविताओं में 'वीरों का कैसा हो वसंत', 'जलियाँ वाले बाग में वसंत', 'झाँसी की रानी', 'मातृमंदिर', 'स्वदेश के प्रति', 'राखी', 'विजय दशमी' 'बिदाई' आदि गिनाये जा सकते हैं –

"कोमल बालक मेरे यहाँ गोली खा-खा कर
कलियाँ उनके लिए गिराना थोड़ी लाकर
आशाओं से भरे हृदय भी छिन्न हुए हैं
अपने प्रिय परिवार देश से भिन्न हुए हैं"। (मुकुल, पृ.८१)

ओजपूर्ण राष्ट्रीय कविता का एक अन्य उदाहरण है–

"वीरों का कैसा हो वसंत? आ रही हिमालय से पुकार
है उदधि गरजता बार-बार, प्राची, पश्चिम, भू, नभ, अपार
सब पूछ रहे हैं दिग्-दिगन्त वीरों का कैसा हो वसंत?"
(मुकुल, पृ.१२६)

'झाँसी वाली रानी' तथा 'राखी' जैसी कविताओं ने सुभद्राजी को कम समय में ही यश के शिखर पर पहुँचा दिया है। लोकगीत की लीक पर चलनेवाली 'झाँसी की रानी' कविता सुभद्राजी की निजी प्रेरणा की सहज अभिव्यक्ति है –

"बुन्देले हर बोलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसीवाली रानी थी
- -
जाओ रानी याद रखेंगे हम कृतज्ञ भारतवासी
यह तेरा बलिदान जगावेगा स्वतन्त्रता अविनाशी।"

(मुकुल, पृ.७५)

आदर्श पत्नी और संवेदनशील माँ के रूप में सुभद्राजी ने प्रणय एवं वात्सल्य के विविध पक्षों को कविता के माध्यम से सहज अभिव्यक्ति दी है। नारी जीवन की सब से बड़ी साध प्रिय को दुःखी न देखना है। प्रिय के दुःख की आशंका मात्र से वह विचलित हो जाती है–

"तुम को सुखी देखना ही था जीवन का सुख मेरा
तुम को दुःखी देखकर पाती थी मैं कष्ट घनेरा"

(मुकुल, पृ.४६)

अपनी सन्तान के मंजुल रूप में एक माँ को सारी सिद्धियाँ और तीर्थ दिखायी देते हैं–

"मेरा मंदिर, मेरी मस्जिद, काबा, काशी यह मेरी
पूजा पाठ ध्यान जप तप है, घट-घट वासी यह मेरी"

(मुकुल, पृ.६०)

सन्तान के रोने के प्रति माता-पिता की संवेदना का तुलनात्मक परिचय इन पंक्तियों में दिखायी पड़ता है –

"तुम को सुनकर चिढ़ आती है, मुझ को होता है अभिमान
जैसे भक्तों की पुकार सुन, गर्वित होते हैं भगवान।"

(मुकुल, पृ.६३)

कहानी लेखिका सुभद्रा कुमारी चौहान

अपने लक्ष्य की सिद्धि के लिए कहानी विधा को सशक्त माध्यम के रूप में स्वीकार कर सुभद्राजी ने अल्पकाल में ही कई कहानियों की रचना की जो तीन

संग्रहों में प्रकाशित हैं— 'बिखरे मोती', 'उन्मादिनी' तथा 'सीधे-सादे चित्र'। आपकी कहानियों की विषयवस्तु सामाजिक तथा राजनीतिक क्षेत्र से सम्बन्धित हैं। 'भग्नावशेष', 'होली', 'दृष्टिकोण', 'कदम्ब के फूल', 'ग्रामीण' जैसी सामाजिक कहानियों में समाज में व्याप्त विसंगतियों एवं कुप्रथाओं के विरुद्ध आवाज़ उठायी गयी है। सुभद्राजी नारी की स्वतन्त्र पहचान की पक्षधर रही हैं। आपके अनुसार अपनी इच्छा-आकांक्षा के अनुकूल जीवनयापन करने का पूर्ण अधिकार नारी को होना चाहिए। 'उन्मादिनी' कहानी-संग्रह के 'निवेदन' में स्वयं लेखिका कहती हैं कि "मनुष्य की आत्मा स्वतन्त्र है, फिर वह चाहे स्त्री शरीर के अन्दर निवास करती हो, चाहे पुरुष शरीर के अन्दर। इसीसे पुरुष और स्त्री का अपना-अपना व्यक्तित्व अलग रहता है"। सहृदय पाठक–समाज से सुभद्राजी निवेदन करती हैं कि "स्त्री के हृदय को पहचानो और उसे चारों ओर फैलने और विकसित होने का अवसर दो, यह न भूल जाओ कि उसका अपना भी एक व्यक्तित्व है।" इसी दृष्टि से आपने कहानियों में नारी की विवशताओं का तथा समस्याओं के विभिन्न पहलुओं का अत्यन्त भावुक, करुणाजन्य एवं हृदयस्पर्शी चित्रण किया है। पुरुष की शंकालु दृष्टि, निरंकुश उद्दण्डता, शराबी आदत आदि का विरोध किया है। नारी के मातृहृदय की विभिन्न परतों को खोलने में सुभद्राजी को नारीसुलभ संवेदना के कारण अपूर्व सफलता मिली है। 'सीधे सादे चित्र' कहानी की कल्याणी कहती है कि "सन्तान के लिए हिन्दू नारी क्या नहीं कर सकती? उनके कल्याण के लिए अपना तन-मन सभी कुछ निछावर कर सकती है, प्रसन्नता से।" 'राही' कहानी में सन्तान की भूख न देख सकनेवाली माँ खाना चोरी करती है और जेल जाती है। 'रूपा' कहानी में अपनी बेटी गोपा के स्पष्ट न बोल पाने की कमजोरी के कारण अवमानना सहन करती है। 'पवित्र ईर्ष्या' तथा 'मछुए की बेटी' कहानियों में भगिनी के निश्चल प्रेम की बात है। 'गुलाब सिंह' में बहन द्वारा शहीदी गौरव के साथ मातृभूमि की रक्षा के लिए भाई को बिदा करने का चित्रण है।

सुभद्राजी ने विधवा-समस्या, बाल-विवाह एवं विवाहिता स्त्री की समस्याओं

को वस्तु बनाकर 'किस्मत', 'नारी हृदय', 'कल्याणी', 'असमंजस', 'मंगला', 'प्रोफेसर मित्रा', 'मँझली रानी', 'आहुति', 'उन्मादिनी' जैसी कहानियों की रचना की है। यौन सम्बन्धों की उच्छृंखलता का आपकी कहानियों में समर्थन नहीं मिलता।

राजनीतिक विषय सम्बन्धी कहानियों में 'गौरी', 'अमराई', 'पापी पेट' 'गुलाब सिंह', 'तांगेवाला' आदि को गिनाया जा सकता है, जिनमें राष्ट्रीयता के उद्‌बोधन के अलावा पुलिस के अत्याचारों का विरोध, हिन्दू-मुस्लिम एकता की सीख आदि का चित्रण मिलता है। 'अमराई' में जागृति के कारण बलिदान के लिए तैयार युवा पीढ़ी का चित्रण है। 'पापी पेट' कहानी में देशप्रेमी होते हुए भी आजीविका के लिए सरकारी कर्मचारी बन अंग्रेजों के दमन-चक्र का साथ देने की विवशता दिखायी देती है। 'राही' कहानी में देशभक्ति और त्याग का ढिंढोरा पीटते हुए जेल की राह पकड़ने वाले देशप्रेमियों की कथा है।

सुभद्राजी की कहानियों में एक ओर ऐसे पीड़ित, ताड़ित, असहाय स्त्री पात्र हैं जो परम्परा का बोध ढोनेवाली हैं जैसे—कवयित्री, करुणा, किशोरी, सोना, विमला आदि। दूसरी ओर अपने अधिकारों के लिए जागरूक स्वतन्त्र व्यक्तित्व रखनेवाली वीणा, मंगला, निर्मला जैसी शिक्षित स्त्रियाँ भी हैं। स्त्री पात्रों में एक ओर जहाँ नैतिक दृढ़ता दिखायी देती है वहीं प्रेमातिरेक से पागल होने वाली और देशप्रेम की अतिरेकता में प्राणों का उत्सर्ग करने वाली नारियाँ भी मिलती हैं। पुरुष पात्रों को अपने-अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हुए दिखाया गया है। देशकाल-परिस्थितियों के चित्रण की कसौटी पर आप की सभी कहानियाँ खरी उतरती हैं। सहज एवं भावपूर्ण संवाद-योजना में सुभद्राजी सिद्धहस्त साबित हुई हैं। भाषा सरल एवं प्रवाहमयी होने के साथ-साथ मुहावरेदार भी है। शब्द-चित्र खींचने में लेखिका को अपेक्षित सफलता मिली है।

इस तरह हम देखते हैं कि सुभद्रा कुमारी चौहान राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर, सक्रिय राजनीति में भाग लेने के अलावा सहृदय साहित्यकार के रूप में सामाजिक समस्याओं की ओर स्पन्दित होने वाली तथा महिला-लेखन को दृष्टि एवं दिशा प्रदान करने वाली एक राष्ट्रीय आत्मा के रूप में अमर हैं।

तेरा स्मारक तू ही होगी

—राजेन्द्र उपाध्याय

"तेरा स्मारक तू ही होगी
तू खुद अमिट निशानी थी
बुंदेले हरबोलों के मुँह
हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसीवाली रानी थी ।।"

अक्सर यह तय करना मुश्किल हो जाता है कि सुभद्रा कुमारी चौहान ने यह बात किसके लिए कही है – लक्ष्मीबाई के लिए या स्वयं वीरगाथा काव्य की इस अद्‌भुत रचना के लिए या कि इस कविता की रचयिता के लिए जो स्वयं देशप्रेम, साहस और वीरता में किसी से कम न थी। ये कविता पंक्तियाँ समान रूप से उन तीनों पर लागू होती है। 'झाँसी की रानी' स्वयं अपने आपमें एक स्मारक है। उन पर लिखी यह कविता भी करोड़ों दिलों में कालजयी है और सुभद्रा कुमारी भी जिनके मुँह से हमने बुंदेले हरबोलों की कहानी सुनी थी। इस कविता ने इस कविता की कथानायिका और कथागायिका दोनों को अमर कर दिया। बचपन में मध्यप्रदेश के एक छोटे से गाँव में हमें यह कविता याद करनी पड़ती थी और जैसे अन्य कविताओं को रटने की मशक्कत करनी पड़ती थी वहीं यह कविता अपने छन्द, अपने प्रवाह और अपने कथन के कारण बरबस याद हो जाती थी। बार-बार जो 'खूब लड़ी' मर्दानी वह तो झाँसीवाली रानी थी, आता था उससे हम बच्चों में नया जोश भर जाता था। अब तक यह कविता याद है।

महादेवी वर्मा ने सुभद्रा के बारे में ठीक ही कहा है कि 'नदियों का कोई स्मारक नहीं होता, दीपक की लौ को सोने से मढ़ दीजिये पर इससे क्या होगा? हम सुभद्रा के सन्देश को दूर-दूर तक फैलाएँ और आचरण में उसके महत्त्व को मानें वही

असल स्मारक है।' सुभद्रा कुमारी चौहान लाखों दिलों में स्मारक बना चुकी हैं। १६ अगस्त १९०४ को जन्म ले कर १५ फरवरी १९४८ तक ही रहने के लिए वे इस दुनिया में आयी थीं। जिस आज़ादी के लिए उन्होंने जीवनभर संघर्ष किया था, वह अभी-अभी तो मिली थी, उसे मिले अभी मुश्किल से ६ महीने ही हुए थे। उस आज़ादी का स्वाद उन्होंने गांधी की तरह ज्यादा नहीं लिया। उनकी लेखनी ने 'झाँसी की रानी' और 'वीरों का कैसा हो वसन्त' जैसी ओजस्वी कविताओं के माध्यम से जो अलख जगायी थी, उसने स्वतन्त्रता संग्राम में प्राण फूँक दिये थे —

"महलों ने दी आग झोपड़ी ने ज्वालामुखी सुलगायी थी,
यह स्वतन्त्रता की चिन्गारी अन्तरतम से आयी थी
झाँसी चेती, दिल्ली चेती, लखनऊ लपटें छायी थीं
मेरठ, कानपुर. पटना ने भारी धूम मचायी थी,
जबलपुर, कोल्हापुर में भी कुछ हलचल उकसानी थी।।"

"भारत के इतिहास गगन में अमर रहेंगे जिनके नाम" उनमें सुभद्रा कुमारी चौहान का नाम भी आदर के साथ लिया जाएगा। सुभद्रा ने नौ बरस की उम्र में 'मर्यादा' में सुभद्रा नाम से कविता छपाई थी। सुभद्रा की पढ़ाई नवीं के बाद ही छूट गयी थी। सुभद्रा ने स्कूल से बाहर आ कर पूरे मन-प्राण से असहयोग आन्दोलन में अपने को झोंक दिया–दो रूपों में, एक तो देश-सेविका के रूप में और दूसरे देशभक्त कवि के रूप में। जालियाँवाला बाग के नृशंस हत्याकांड से उनके मन पर जो गहरा आघात लगा था, उसने उनसे एक के बाद एक तीन आग्नेय कविताएँ लिखवा दीं। 'जालियाँवाले बाग में वसंत' कविता में उन्होंने लिखा —

"आओ प्रिय ऋतुराज! किन्तु धीरे से आना।
यह है शोक स्थान यहाँ मत शोर मचाना।।
कोमल बालक मरे यहाँ गोली खा-खाकर।
कलियाँ उनके लिए गिराना थोड़ी लाकर।
कुछ कलियाँ अधखिली यहाँ इसलिए चढ़ाना ।

करके उनको याद अश्रु की ओस बहाना ।
यह सब करना, किन्तु बहुत धीरे से आना ।
यह है शोक स्थान, यहाँ मत शोर मचाना।।"

सुभद्रा का नाम उन दिनों सब तरफ इतना फैल गया था कि उनके भाषणों को सुनने के लिए लोग अपने आप हजारों की संख्या में जमा हो जाते थे। भीड़ शायद इसलिए भी होती थी कि भाषणों के बीच वे कविताएँ भी सुनाती थीं। टाइम्स ऑफ इंडिया के संवाददाता ने एक रिपोर्ट में उन्हें 'लोकल सरोजिनी' लिख दिया था।

कथाकार जैनेन्द्र कुमार सुभद्रा से लगभग एक साल छोटे थे। जैनेन्द्र और सुभद्रा की नागपुर-बिलासपुर में असहयोग आन्दोलन के दौरान ही मैत्री हो गयी थी। अखबारवालों से सम्बन्ध होने के कारण जैनेन्द्र को सिनेमा के फ्री पास मिलते थे। सुभद्रा के लिए जहाँ आश्रम का रहन-सहन, सत्याग्रह की तैयारी और जेलजीवन की परेशानी जीवन का सामान्यक्रम थी, वहीं हँसी-दिल्लगी, छेड़-छाड़, घूमना-फिरना, नाटक-सिनेमा भी प्रतिदिन के जीवन का अंग थी। फ्री पास दिलाने की जैनेन्द्र की क्षमता का पता चला तो अक्सर पाँच-सात टिकटों की माँग सुभद्रा करने लगीं। पति लक्ष्मण सिंह को सिनेमा का शौक नहीं था। वे जैनेन्द्र से कहते– 'जैनेन्द्र! तुम सुभद्रा को सिनेमा दिखा लाओ।'

सुभद्रा ने शुष्क जीवन नहीं जिया। उन्हें मेले-ठेले का शौक भी था। साड़ियाँ कई तरह की रखती थीं, पर खद्दर ही पहनती थीं।

लक्ष्मण सिंह और सुभद्रा में देश के लिए काम करने की लगन थी। साहस और त्याग की भी कोई कमी नहीं थी, पर दोनों ही सीधे, सच्चे-ईमानदार थे। माखनलाल चतुर्वेदी ने इस आदर्श दम्पति के सम्बन्ध में लिखा है—'दोनों साहित्य लिखते, दोनों भाषण करते, दोनों जेल जाते और राजनैतिक अवसरवादिता के हाथों पीसे जाते।"

सुभद्रा की कविताएँ दस-ग्यारह बरस की उम्र से पत्र-पत्रिकाओं में छपती रही थीं। उनके लिए उन्हें काफी प्रशंसा भी मिलती थी, परन्तु संग्रह के बारे में कभी

सोचा नहीं था। १९२८-२९ में इलाहाबाद के युवक प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त' ने सुभद्रा से पत्रव्यवहार किया और उन्हीं की इच्छा और प्रयत्नों से पहला संग्रह 'मुकुल' नाम से छापा।

'मुकुल' का हिन्दी जगत् ने दिल खोलकर स्वागत किया। उसी वर्ष हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने लेखिकाओं के लिए सेकसरिया पुरस्कार की घोषणा की थी। पाँच सौ रुपयों का यह पुरस्कार सबसे पहले सुभद्रा कुमारी चौहान को 'मुकुल' के लिए मिला। गाढ़े दिनों में मिला यह पुरस्कार सुभद्रा के परिवार के बहुत काम आया। उसके बाद तो 'मुकुल' कई बार छपा, पाठ्यपुस्तक बना, पर सुभद्राजी को उससे कुछ नहीं मिला। कोरे कागज पर दस्तखत करके पांडुलिपि मुक्तजी को दे दी थी। उन्होंने ही यह संग्रह छपवाया था।

सुभद्रा कुमारी चौहान लगभग मातृवत् साहित्यकारों और कवियों की सेवा करती थीं। अप्रैल १९४८ के 'हंस' में प्रसिद्ध हिन्दी कवि गजानन माधव मुक्तिबोध ने लिखा है कि "उनका मातृस्वभाव बड़ा प्रबल था। मेरे पहुँचते ही मेरे लिए अवश्य चाय तैयार हो जाती थी। और बातचीत में कुछ ऐसी स्वाभाविकता रहती, ऐसा निष्कलुष ओज रहता कि कुछ कहते नहीं बनता। राजनीति में जो एक कुशल, विदग्ध और कुटिल व्यवहार-शैली नेतागिरी ने विकसित की है, उसका नितान्त अभाव सुभद्राजी में था। यही कारण है कि उनकी कविताएँ, उनका इतर साहित्य भी बाल-सुलभ सारल्य के मानवीय गुणों से विकसित और अपनी अनलंकृति में अलंकृत है।"

मुक्तिबोध ने ही लिखा है कि सुभद्राजी ने एक बार अज्ञेय के बीमार पड़ने पर कैसे उनकी सेवा की थी– "मेरे यहाँ वात्स्यायनजी आये और बीमार पड़ गये। उन्हीं दिनों में सुभद्राजी का मुझसे अधिक परिचय हुआ। वे जानती थीं कि वात्स्यायनजी को कष्ट और मुझे असुविधा होने की संभावना है। हमलोगों के सो कर उठने के पहले ही घर पर सुभद्राजी का चक्कर लग जाता। दुपहर को मेरे स्कूल का समय। घर पर सुभद्राजी उपस्थित हैं। शाम को लौटकर आता हूँ तो देखता हूँ

वे वही हैं। कुछ देर और बैठती हैं और मुझसे आवश्यक बातें करके चल देती हैं। घर का सारा कार्य स्वयं करती थीं। पता नहीं वे हमलोगों के लिए कैसे समय निकाल पाती थीं।"

मुक्तिबोध को अपने स्कूल से कई महीने तक वेतन नहीं मिला। सुभद्रा ने अधिकारियों पर जोर डालकर उन्हें वेतन दिलवाया। स्कूल अधिकारी जब जान गये कि इस परदेशी स्कूल-मास्टर की पीठ पर श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान एम.एल.ए. हैं तो फिर उन्होंने दुबारा मुक्तिबोध को तंग नहीं किया।

शमशेर बहादुर सिंह अपने मामा के यहाँ जबलपुर गये तो सुभद्राजी ने उन्हें भी अपना भरपूर स्नेह दिया। सुभद्रा के बारे में शमशेर लिखते हैं—"कुछ यादगारें किस कदर ताजगी अपने अंदर लिए होती हैं। उनकी झाँकियाँ जैसे वसंत का पहला दिन हों—वैसी ही नर्मी और मुस्कुराहटें लिए हुए, जो एक हलचल और मस्ती-सी हमारी आत्मा को दान कर जाती है। और कभी-कभी अपनी याद के आँचल में बँधी हुई एक उदासी भी।"

मुक्तिबोध ने जिस सहृदयता से सुभद्रा कुमारी चौहान के राष्ट्रीय काव्य का मूल्यांकन किया है वह बेजोड़ है। वे लिखते हैं —"कुछ विशेष अर्थों में सुभद्राजी का राष्ट्रीय काव्य हिन्दी में बेजोड़ है क्योंकि उन्होंने उस राष्ट्रीय आदर्श को जीवन में समाया हुआ देखा है, उसकी प्रवृत्ति अपने अंतःकरण में पायी है, अतः वह अपने समस्त जीवन सम्बन्धों को उसी प्रवृत्ति की प्रधानता पर आश्रित कर देती हैं, उन जीवन सम्बन्धों को उस प्रवृत्ति के प्रकाश से चमका देती हैं। यही उनके राष्ट्रीय काव्य की सबसे बड़ी ऊँचाई और सफलता है। राष्ट्रीय संग्राम में सक्रिय रूप से भाग लेनेवाली कवयित्री का राष्ट्रीय काव्य जीवन-प्रसंगों की भूमिका को लेते हुए मानवीय हो गया है। उनके काव्य की सर्वगम्यता और सहज संवेद्यता सीधी अभिव्यक्ति के कारण ही नहीं है, वरन जीवन-प्रसंगों को भूमिका में किसी एक भाव-क्षण को उपस्थित करने के कारण, जीवन के वास्तविक धरातल पर भावों को प्रकट करने के कारण उनमें वह गुण उत्पन्न हुआ जिसे हम मानवीय कहते हैं।"

मुक्तिबोध आगे लिखतें हैं–"सुभद्रा के काव्य में भावों के बहुत गहरे रंग नहीं हैं, पर भावों में गहराई है। उनका काव्यगुण जिन स्रोतों से उत्पन्न हुआ है वे स्रोत हैं जीवन के प्रति संवेदनात्मक प्रतिक्रियाएँ, जो अपनी ताजगी, नवीनता और जीवन-वस्तु सम्पर्क के कारण हृदय की गहराई को छू लेते हैं।"

सुभद्रा कुमारी चौहान ने छायावाद के बीचोबीच रहकर, छायावादी काव्यधारा से बिल्कुल अलग हटकर कविताएँ लिखीं जो अपने सहज समृद्ध मानवीय गुणों के कारण आज भी प्रीतिकर हैं।

सुभद्राजी की राष्ट्रीयता और राष्ट्रीय कविताओं से प्रेरित होकर राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर भी उनके जैसा बनना चाहते थे। उनकी आस्था प्रसाद, पन्त, निराला और महादेवी जैसे छायावादी कवियों में नहीं बल्कि सुभद्राजी की ओजपूर्ण कविताओं में थी। दिनकर लिखते हैं–"अनुकरण मैंने मैथिलीशरणजी का किया था, पंडित रामनरेश त्रिपाठी का किया था और पन्तजी का भी किया था, किन्तु मैं प्रसाद, पन्त, निराला और महादेवी में से किसी के समान बनना नहीं चाहता था। मेरी सबसे बड़ी भक्ति मैथिलीशरण और रामनरेश त्रिपाठी पर थी या फिर मैं 'एक भारतीय आत्मा' और सुभद्रा कुमारी चौहान के समान बनना चाहता था। मैं सुभद्राजी और महादेवी की मन ही मन तुलना करता था और इस बात पर खीझता था कि महादेवीजी सुभद्राजी के समान क्यों नहीं लिखती हैं–सीधी, सरल और देशभक्ति जगानेवाली उन्माद कविताएँ।"

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' भी सुभद्रा पर छोटी बहन जैसी ममता रखते थे। ये 'बालकृष्ण' थे और वह 'सुभद्रा' थी। इनका सम्बन्ध सनातन था। वे सुभद्रा को प्यार से 'विन्नो' वा विन्नो रानी कह कर बुलाते थे। १९४३ में जब सुभद्रा कानपुर में प्रताप प्रेस में नवीनजी के पास ठहरी थीं, दोपहर में सो रही थीं तभी बिजली चली गयी। आँख खुलने पर देखा कि नवीनजी हाथ का पंखा झल रहे हैं।

जैनेन्द्र कुमार ने सुभद्रा के बारे में लिखा है कि "सुभद्रा ने धन-कष्ट और और भी बहुत से कष्ट सहे, पर उसमें दैन्य कभी नहीं आया। उसकी गरिमा अभावों

के बीच भी राजसी रहती थी।" वे दीन-दुखियों, दलितों की सेवा करते हुए भी राजसी रहनसहन रखती थीं। रिक्शे पर बैठ कर कभी पैसा तय नहीं करती थीं। हमेशा ज्यादा पैसा देती थीं।

१९४१ में जबलपुर सेन्ट्रल जेल में सुभद्रा अकेली महिला राजनीतिक बन्दी थीं। जेल में भरपूर एकान्त था। इस एक महीने के जेल-प्रवास में सुभद्रा ने लगभग पन्द्रह कहानियाँ लिख डालीं। जेल के अन्दर लिखी इन कहानियों में भी अधिकतर ऐसी कहानियाँ हैं जो लेखिका की कल्पना और उनकी अपनी मनोव्यथा दोनों को छूती चलती हैं। उनकी एक कहानी 'जब और सहा नहीं जाता' में एक कैदी स्त्री अपनी कहानी सुनाती है। उनकी 'राही' कहानी भी सच्ची घटना पर आधारित है।

सुभद्रा ने अपने रंग से इतर कुछ कविताएँ लिखने का प्रयत्न भी किया था, पर वह उनसे सधा नहीं क्योंकि उनके स्वभाव से मेल नहीं खाता था। अन्ततः परिणाम यह हुआ कि उन्होंने कविताएँ लिखनी एक प्रकार से छोड़ ही दी और कहानी को ही अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बना लिया। यों भी देश के वातावरण में राजनीतिक शिथिलता आ जाने के कारण देशप्रेमपरक कविताओं के लिए प्रेरणा का स्रोत सूख चुका था। उनके बालगोपाल भी बड़े होने लगे थे जिनकी शैतानियों में उन्हें आनन्द आने लगा था। अतः उनकी कविता ने बच्चों के इस खेल-कूद में एक नयी दिशा पा ली और आगे के वर्षों में उन्होंने कहानियों के अतिरिक्त बच्चों की ही कविताएँ लिखीं जो कि अपने ढंग की अनूठी कविताएँ हैं। बच्चों की वे कविताएँ एकदिन बच्चों के ही काम लाने की उन्होंने सोची और वे एक स्कूली प्रकाशक के पास उन्हें बेचने के लिए गयीं। दीवाली के दिन बच्चों को मिठाई खिलानी थी। प्रकाशक ने पांडुलिपि रख ली, लेकिन रुपये उस दिन नहीं दिये। आने जाने में हाथ में जो रुपये थे वे भी गये। उस समय के प्रकाशक इतने ही कठोर हुआ करते थे। लेखकों का शोषण करने से चूकते नहीं थे। लेखकों की मजबूरी का फायदा उठाते थे।

सन् १९४२ के स्वतन्त्रता आन्दोलन में सुभद्रा कुमारी करीब नौ महीने और

उनके पति लक्ष्मण तीन बरस जेल में रहे। जेल में स्वास्थ्य बिगड़ जाने पर भी माफी नहीं माँगी। १५ फरवरी, १९४८ को वसन्त पंचमी के तीसरे पहर, नागपुर से अस्सी किलोमीटर दूर सीवनी के जंगलों में सुभद्रा कुमारी की कार मुर्गी के बच्चों को बचाने के चक्कर में पेड़ से टकरा गयी और वहीं सुभद्रा कुमारी का देहान्त हो गया। मानो नर्मदा की धारा सूख गयी हो।

उनकी मृत्यु पर एक भारतीय आत्मा माखनलाल चतुर्वेदी ने लिखा कि "सुभद्राजी का आज चल बसना, प्रकृति के पृष्ठ पर ऐसा लगता है मानो नर्मदा की धारा को कोई महाकौशल के अंचलों में से चुरा ले गया हो और इस निर्मल धारा के बिना तट के पुण्य-तीर्थों के सारे घाट मानो अपने अर्थ और उपयोग खो बैठे हों। सुभद्राजी का जाना ऐसा मालूम होता है मानो 'झाँसीवाली रानी' की गायिका झाँसी की रानी से कहने गयी हो कि लो, फिरंगी खदेड़ दिया गया और मातृभूमि आज़ाद हो गयी। सुभद्राजी का जाना ऐसा लगता है मानो अपने मातृत्व के दुग्ध, स्वर और आँसुओं से उन्होंने अपने नन्हे युग को कठोर उत्तरदायित्व सौंपा हो। प्रभु करे, सुभद्राजी को अपनी प्रेरणा से हमारे बीच अमर कर के रखने का बल इस पीढ़ी में हो।

वे अपनी रचना के बल पर ही अमर हैं और रहेंगी। जबलपुर निवासियों के हृदय में सुभद्रा के लिए अनन्त स्नेह और श्रद्धा थी। वहाँ के प्रसिद्ध साप्ताहिक 'प्रहरी' ने सुभद्रा कुमारी स्मारक निधि के लिए अपील निकाली। चन्दा इकट्ठा होने में देर नहीं लगी, क्योंकि लोगों ने स्वेच्छा से आ-आ कर चन्दा दिया। स्मारक समिति ने शहर में सुभद्राजी की एक प्रस्तर-प्रतिमा लगाने का निश्चय किया। इटली से सुभद्रा की मूर्ति बनवायी गयी। २७ नवंबर १९४९ को जबलपुर शहर के कारपोरेशन भवन के सामने बगीचे में मूर्ति का अनावरण एक और कवयित्री महादेवी वर्मा ने किया। प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष भदन्त आनन्द कौसल्यायन भी समारोह में आये और कहा कि वे अपने विद्यार्थी जीवन में पंजाब में चाहते थे कि 'खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसीवाली रानी थी' गाते हुए गाँव-गाँव

घूमें। सुभद्राजी ने यदि यही एक कविता लिखी होती और कुछ भी न लिखा होता तो भी वे अमर हो जातीं।

सच है, माखनलाल चतुर्वेदी ने अगर केवल एक कविता 'पुष्प की अभिलाषा' लिखी होती, उसी तरह सुभद्रा ने 'झाँसी की रानी' लिखी होती तो भी दोनों अमर रहते। स्मारक समारोह में डॉ. रामकुमार वर्मा, इलाचन्द्र जोशी और हरिवंशराय बच्चन भी आये थे। महादेवी ने कहा– "नदियों का कोई स्मारक नहीं होता। दीपक की लौ को सोने से मढ़ दीजिए पर इससे क्या होगा ?" सच है, सुभद्राजी की कविता भी क्षिप्रा की तरह मन्द-मन्द बह रही है और उसकी लौ भी मन्द-मन्द जल रही है।

२८ अगस्त १९५३ को सुभद्राजी के पति लक्ष्मण सिंह भी यह दुनिया छोड़ कर चले गये। अपने पीछे भरापूरा परिवार छोड़ गये जिनमें अमृतराय (प्रेमचन्द के बेटे) सुभद्राजी के दामाद और बेटी सुधा चौहान प्रमुख हैं।

जैनेन्द्र के उपन्यासों में व्यक्ति और समाज

—मंजुरानी सिंह

जैनेन्द्र के सम्बन्ध में सबसे पहली बात जो मेरे मन में आती है वह यह कि वे एक विरल साहित्यकार हैं– मौलिकता और सृजनशीलता से भरपूर। हमारे मन में उनके लिए श्रेष्ठ विशेषण भी निर्द्वन्द्वपूर्वक जगता है, जबकि अपनी कृतियों में उनका प्रयास कहीं श्रेष्ठ होने का दिखता नहीं।

'जो सच है वह यह है' मानो यह खोजने, जानने और कहने के क्रम में वे यह परवाह छोड़ते नज़र आते हैं कि आप उनके बारे में क्या धारणा बनाते हैं। आपकी धारणा आपकी है, आपके गुण-धर्म के अनुरूप और उनके कृत्य, उनके चिन्तन उनके हैं, उनके गुण-धर्म के अनुरूप; जैसे गुलाब का रंगोआब, उसकी ख़ुशबू उसकी अपनी हैं, उससे बाहर निकलना उसके वश का नहीं। अपने को पूर्णतः अभिव्यक्त कर देना ही उसका वह धर्म या दायित्व है जो अस्तित्व ने उसे सौंपा है।

"हमारे अन्दर अनन्त अव्यक्त है। मैला उसमें है, धौला उसमें है। उस सबको स्वीकार करके शनैः शनैः उसे बाहर निकालकर अपने को रिक्त करते जाना मेरे ख्याल में यह बड़ा काम है। इससे अलग सर्जन क्या होता होगा, वह मैं जानता नहीं हूँ।"

उनका लक्ष्य व्यक्ति या समाज नहीं, बल्कि इनके बीच का संघर्ष या पारस्परिकता दोनों उस अखंड, अद्वैत सत्य तक पहुँचने का साधन रहे हैं। वे कहते हैं, "मेरे अंदर सबसे गहरे में यह प्रतीति है कि बुद्धि भरमाती है। अक्सर वह श्रद्धा को खाती है। इन्द्रियों की तरह बुद्धि भी पदार्थ के लिए है। जगत के और पदार्थ के साथ निबटना ही उसका क्षेत्र है। शेष में उसे पूरी तरह श्रद्धा के अंकुश में रहकर चलना होगा।... बुद्धि द्वैत पर चलती है। इसलिए मेरे साहित्य का परम श्रेय तो हो रहता है अखंड और अद्वैत सत्य। उसी का व्यावहारिक रूप है समस्त चराचर जगत के प्रति प्रेम, अनुकम्पा यानी अहिंसा।"

ज्ञात हो कि अपने लक्ष्य तक पहुँचने-पहुँचाने के लिए इन्होंने व्यावहारिक रूप में गांधीवाद और अद्वैतवाद को स्वीकारा। इसलिए उनके साहित्य में व्यक्तिवाद को महत्त्व प्राप्त होते हुए भी समाज की कभी अवहेलना नहीं हुई। वे मानते हैं कि मानव अपने आप में समाप्त नहीं है। वह सबका अंश है। वह सब है। सब हुए बिना उसकी मुक्ति नहीं। मुक्ति बिना तृप्ति नहीं। इसलिए हम पाते हैं कि उनके पात्रों का 'स्व' नाना सम्बन्धों द्वारा 'पर' से जुड़ता है और वे 'स्व' सेवन के बजाय दान या उत्सर्ग को अपना जीवन मूल्य चुनते दिखते हैं, चाहे चुनाव की राह यन्त्रणादायक क्यों न हो। वे हृदय का उत्सर्ग करते हैं जो जैनेन्द्र की दृष्टि में स्थायी उत्सर्ग है, बल्कि कई स्थलों पर वे अपने सर्व 'स्व' का उत्सर्ग भी करते हैं। अपने प्रिय को पाने की कामना का भी उत्सर्ग।

'परख' (१९२९) जैसे अपने पहले उपन्यास से ही जैनेन्द्र ने हिन्दी उपन्यास को पाठकों की घिसी-पिटी नैतिकता की संकीर्णता से निकालना आरम्भ कर दिया। उनके मन में स्थापित सामाजिक मूल्यों की कसौटी को उन्होंने तोड़ा और उनके रूढ़ व अमानवीय विश्वासों को हिला दिया। 'परख' में विधवा-विवाह की समस्या के माध्यम से लेखक ने कमजोर व बेमानी सामाजिक मूल्यों की परख की है और उन्हें व्यर्थ करार देते हुए विधवा-विवाह का समर्थन कर नये सामाजिक मूल्य की स्थापना की है।

सबसे पहले 'परख' में सामाजिक समस्या के अन्तर्गत विधवा-जीवन की वस्तुस्थिति को कथानक का विषय बनाया गया है। लेकिन यहाँ जिस सामाजिक मूल्य को विवेच्य विषय बनाया गया है, उसमें वैधव्य की मर्यादा को नये रूप में देखने का प्रयास किया गया है। जैनेन्द्र ने वैधव्यव्रत जैसे सामाजिक मूल्य पर प्रश्न चिह्न लगा दिया है। जैनेन्द्र ने इस समस्या से जूझती हुई स्त्री के मनोविज्ञान का विवेचन करने की कोशिश की है। 'परख' में घटनाओं की स्थूलता के स्थान पर चरित्र की गहनता को मूल्यविवेचन का माध्यम बनाया गया है। लेखक ने सत्यधन, कट्टो, बिहारी और गरिमा को मूल्यचिंतन का माध्यम बनाया है। सत्यधन एक

आदर्शवादी अध्यापक है और बिहारी व्यावहारिक नागरिक। सत्यधन गाँव की बालविधवा कट्टो को पढ़ाई में सहयोग करता है और इसी क्रम में कुछ अतिरिक्त स्नेह और आन्तरिकता भी व्यक्त कर बैठता है, परिणामतः कट्टो में उसके प्रति निष्कपट प्रेम जन्म ले लेता है, जिसकी परिणति विवाह हो सकती थी, पर ऐसा होता नहीं। परम्परावादी मूल्यों का पोषक सत्यधन विधवा कट्टो से विवाह करने का साहस जुटा नहीं पाता, इतना ही नहीं वह विवाह करता है गरिमा से, जो उसके मित्र बिहारी की बहन है और बिहारी कट्टो से विवाह कर लेता है। पर बिहारी के साथ दाम्पत्य जीवन जीते हुए भी कट्टो सत्यधन की प्रेयसी बनी रहती है। इस तरह जैनेन्द्र कभी भी सामाजिक चौहद्दियों को तोड़ना नहीं चाहते बल्कि उसे अपनी जगह बनाये रखते हुए वैयक्तिक स्वच्छन्दता एवं मनोग्रन्थि के पोषण के लिए एक अलग सुरंग तैयार करने की पहल करते हैं। इस तरह सामाजिक स्तर पर परम्परागत आदर्शों की तुलना में वैयक्तिक यथार्थ को विशेष महत्त्व देते हुए सामाजिक मूल्यों का पुनः विवेचन करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि सामाजिक मूल्यों को वैज्ञानिक मूल्यों-प्रतिमानों के आधार पर स्वीकार किया जाना चाहिए। जैनेन्द्र ने कहा है – सत्यधन की व्यर्थता मेरी है। बिहारी की सफलता मेरी भावनाओं की सफलता है, और कट्टो वह है जिसने मुझे व्यर्थ किया और जिसे मैं अपनी समस्त भावनाओं का वरदान देना चाहता हूँ। इस उपन्यास में व्यक्ति का अपने व्यक्तित्व से ही संघर्ष होता है और उसकी सामाजिक चेतना ही विजयी होती है। 'परख' के छह वर्षों बाद १९३५ ई. में जैनेन्द्र का दूसरा उपन्यास 'सुनीता' प्रकाशित हुआ। इसमें भी विभिन्न प्रकार के मूल्यबोधों का मूल्यांकन हुआ है। 'परख' में परम्परा और आदर्शवाद की परिणति में व्यक्ति जिस यन्त्रणा को भोगता है 'सुनीता' में उससे मुक्ति पाने की चेष्टा की गयी है। एक ओर व्यक्तिगत मानसिक संरचना, रुचि-वैभिन्य ; प्रकृति-वैचित्र्य तथा भिन्न क्रियात्मक क्षमता के आधार पर लेखक ने हर पात्र की व्यक्तिवादी चेतना को उभरने की स्वतन्त्रता दी है, ताकि वे अपने 'स्व' की पहचान कर सकें और तब पुनः उन्हें स्वेच्छा से अपनी कर्मभूमि चुन सकें। हालाँकि बहुत

स्वाभाविक ढंग से घटनाएँ नहीं घटतीं हैं। अपने मित्र हरिप्रसन्न को प्रसन्न रखने की जिम्मेदारी अपनी पत्नी सुनीता को सौंपने के पीछे उसकी नीयत मित्र-प्रेम के बजाय सुनीता को परीक्षा की स्थिति में रखने की अधिक दिखती है। उन दोनों के लिए अक्सर एकान्त का आयोजन कर अपनी उदारता के अहं का पोषण करता दिखायी पड़ता है और अन्त तक इसका आनन्द लेता रहता है, मानो वह हरिप्रसन्न की इस नियति से वाक़िफ़ हो कि वह अधिक दिनों तक इनके बीच नहीं रहेगा, उसकी राह राजनीति है, उसकी कर्मभूमि परिवार नहीं राष्ट्र है। हाँ, लेखक ने सुनीता के व्यक्तित्व की भरसक पूरी सुरक्षा करने की कोशिश की है। इस सुरक्षा में कहीं-कहीं उसके व्यक्तित्व का कृत्रिम विकास हुआ भी दिखायी पड़ता है, फिर भी यह कहना पड़ता है कि लेखक की नीयत इसी चरित्र में स्पष्ट होती है। यहीं यह स्पष्ट होता है कि व्यक्तिगत मूल्य व्यक्तिवाद को प्रश्रय देने वाला नहीं होना चाहिए—बल्कि व्यक्ति-अस्तित्व को समष्टि-हित की प्रमाणित इकाई के रूप में विकसित होकर समस्त जगतीय कार्यों का उद्‌गम बिन्दु सिद्ध होना चाहिए। जैनेन्द्र सुनीता के व्यक्तित्व की ऐसी ही छवि तैयार करते हैं ताकि आगे चलकर उसमें परोपकारी चित्तवृत्ति के फलस्वरूप समष्टिगत मूल्य निर्मित हों, वह 'स्व' का परित्याग और 'पर' के प्रति अनुराग को जन्म दे सके। वस्तुतः सामंजस्य ही समष्टिगत मूल्यों का आधार है। राष्ट्र एवं समाज के प्रति अनन्य प्रेम, त्याग, बलिदान, अहिंसा, दया, करुणा तथा उन्नति की तमाम चेष्टाएँ समष्टिगत मूल्यों का परिणाम हैं। जैनेन्द्र भले ही अपने पात्रों को उनके मनोविकारों और ग्रन्थियों के साथ उपस्थित करें पर 'मैला' और 'धौला' के प्रति हरदम सचेष्ट दिखते हैं और तब तक अपने चरित्रों के साथ यात्रा करते रहते हैं जब तक उन्हें आत्मबोध न हो जाय, जब तक वे 'मैला' छोड़ 'धौला' की ओर उन्मुख न हो जायें। 'सुनीता' में द्वन्द्वपूर्ण परिस्थिति की अवतारणा करते हुए लेखक ने दाम्पत्य जीवन के एकनिष्ठ प्रेमभाव की पारम्परिक मूल्यवत्ता को स्वीकार नहीं करके, उसे एक भिन्न स्तर पर प्रतिष्ठित करना चाहा है। वह यही कि सामाजिक या पारिवारिक मूल्यों की मर्यादा वैयक्तिक चेतना द्वारा नियन्त्रित

होनी चाहिए न कि केवल परम्परागत मान्यता से अनुपालन में प्रयुक्त होना चाहिए। इस तरह 'परख' की तुलना में 'सुनीता' यथार्थ की भूमिका पर मूल्यबोध की खुली जाँच करता है और उसका श्रेय मानव-विवेक को दिया जाना चाहिए।

जैनेन्द्र का सबसे विवादग्रस्त उपन्यास 'त्यागपत्र' (१९५७) माना जाता है, क्योंकि इसमें पात्रों का चरित्र-विकास एक साथ दो धरातलों पर हुआ है— व्यक्तिगत और सामाजिक, वह चाहे प्रमोद हो या बुआ मृणाल। यह उपन्यास मृणाल के अनमेल विवाह की व्यथा से उपजा ऐसा उपन्यास है, जो भारतीय समाज में नारी की परवशता और दीनता की कहानी कहता है, और उस ढोंगी नैतिकता वाले समाज को अदालत में खड़ा कर देता है। मृणाल के अनमेल विवाह और पति के प्रतारणापूर्ण अमानवीय व्यवहार से उसका जीवन तबाह हो जाता है, उसकी आत्मा को मारने की तरह-तरह से कोशिश की जाती है, पर वह मरती नहीं। सम्भवतः जैनेन्द्र को स्त्री-शक्ति के अमृतत्व की पहचान थी, इसलिए यन्त्रणा, संघर्ष, प्रतारणा की पराकाष्ठा में भी वे मरतीं नहीं, बल्कि जीने की एक नयी राह तलाश लेती हैं। मृणाल समाज की व्यवस्था को अपनी ओर से तोड़ती नहीं, पर सामाजिक मूल्यों को ठुकराती अवश्य है। समाज का मूल्य वह कभी भी भुलाती नहीं — समाज टूटा तो हम किसके भीतर बनेंगे? इसलिए मैं इतना तो कर ही सकती हूँ कि समाज से अलग होकर उसकी मंगलाकांक्षा में टूटती रहूँ। पर मृणाल अपना भी मूल्य कभी नहीं भुलाती। उसकी आत्मव्यथा ही उसकी आत्मशक्ति और आत्मदृष्टि बन जाती है। तथाकथित सभ्य और आभिजात्य समाज की झूठी नैतिकता और आडम्बर को समझ चुकने के बाद वह उनका तिरस्कार करते हुए निम्नतम स्तर के लोगों के बीच आश्रय लेती है। यह वह बस्ती है जहाँ चरित्र और नैतिकता की कोई कसौटी नहीं है, जहाँ कोई किसी को हिकारत की नज़रों से नहीं देखता, कोई किसी के चरित्र पर कीचड़ नहीं उछालता, कोई किसी के सामने सर झुकाकर नहीं चलता, बल्कि जरूरत पड़ने पर सभी, सभी के काम आते हैं, सभी परस्पर दुख-सुख बाँटते हैं, सौहार्द्र, सद्भावना जैसे मानवीय गुण वहाँ जीवित और चालित दिखायी पड़ते हैं।

मृणाल ने उनके बीच रहने का निर्णय लिया है, क्योंकि यहीं उसे निर्द्वन्द्व ठौर मिला है। अब उनसे हटकर वह अपनी कोई व्यक्तिगत मुक्ति नहीं चाहती। वह चाहती है कि यदि मुक्ति मिले तो सबको मिले। यह सबको अपने साथ ले चलने की आकांक्षा उसकी उदात्त, करुणार्द्र एवं समष्टिगत आत्मदृष्टि का परिणाम है। क्योंकि उसी के माध्यम से उसे अखंड और अद्वैत सत्य का दर्शन होता है, जो जैनेन्द्र का लक्ष्य रहा है। व्यक्ति के लिए समाज का हमेशा ही महत्त्व है, पर वर्तमान सामाजिक व्यवस्था व्यक्ति के सुख और विकास के लिए मुकम्मल नहीं, जैनेन्द्र अपनी रचनाओं में हमेशा पाठक को इस यथार्थ से साक्षात्कार कराते रहते हैं। इस सन्दर्भ में वे स्त्री के प्रति अपेक्षाकृत अधिक संवदेनशील दिखायी पड़ते हैं। यहाँ तक कि अपने नैतिक मूल्यों का संवाहक वे उन्हें ही बनाते हैं। अभी-अभी हमने मृणाल का सामाजिक विद्राह दर्ज किया कि अब कल्याणी सामने आयी।

'कल्याणी'(१९३९) की कहानी एक सामान्य स्त्री की कहानी नहीं है, बल्कि विदेश से शिक्षित एक डाक्टर स्त्री की कहानी है, जिसका विवाह एक रूढ़िवादी संस्कार वाले व्यक्ति से हो जाता है, जो स्वयं भी पेशे से डाक्टर है। वह अपनी सन्देहशील और संकीर्ण मानसिकता के कारण कल्याणी को तरह-तरह से शारीरिक व मानसिक यन्त्रणा देता है पर कल्याणी विद्रोह नहीं करती। वह मानती है कि भारतीय पारम्परिक समाज-व्यवस्था में परिवार ही केन्द्र में है और तब नैतिकता की परिभाषा परिवार से परे नहीं रहती है। वह 'कॅरिअरिज्म' के स्तर पर अपना निजत्व मिटाकर पतितुष्टि की चेष्टा में अपना पतिव्रत निर्वाह करते हुए निराशा, वितृष्णा, अपमान और अतृप्ति भोगती है और अन्त में आत्महत्या कर लेती है। मृणाल की तरह कल्याणी भी भारतीय समाज पर एक व्यंग्य है। शायद कल्याणी का ऐसा अन्त लेखक को स्वयं भी नहीं भाया, इसलिए कई वर्षों तक की चुप्पी के बाद उन्होंने लिखा 'सुखदा'। सुखदा उच्छृंखल एवं स्वतन्त्र व्यक्तित्व की माँग करनेवाली स्त्री है। आरम्भ में तो पति से प्राप्त स्नेह और प्रणय में मस्त रहती है, परन्तु बाद में जीवन की वास्तविकता से वाक़िफ़ होने पर स्वयं को खोखला अनुभव करती है। मध्यवर्गीय

जीवन की यह समस्या जिस मानसिक संघर्ष के लिए उत्तरदायी है, इसका चित्रण सुखदा में उपलब्ध होता है। निस्सन्देह जैनेन्द्र का यह उपन्यास पारिवारिक एवं सामाजिक सामंजस्य की खोज करता है।

'विवर्त' (१९५२) में भी जैनेन्द्र ने इस सामंजस्य का प्रयास किया है। अमीर घराने की लड़की भुवनमोहिनी अपने प्रेमी जितेन से इसलिए विवाह नहीं कर पाती है कि वह अमीर नहीं है, और उसका विवाह नरेशचन्द्र जैसे प्रतिष्ठित रईस से हो जाता है। नरेशचन्द्र अपवादस्वरूप एक भले और उदार व्यक्ति हैं जो अपनी पत्नी के इतिहास से विचलित नहीं होते। सद्यः वर्तमान के पीछे अतीत भी हो सकता है, वे ऐसा मानते हैं। जितेन अर्थाभाव की ग्रन्थि के कारण अपराध के रास्ते चल पड़ता है, और घटनाक्रम में उसकी मुलाकात भुवनमोहिनी से फिर होती है। दोनों की मनःस्थिति भिन्न है। जितेन उसका अपहरण करता है, इसलिए कि उसे पचास हजार की फिरौती मिले, और भुवनमोहिनी उसके इस आचरण के पीछे उसकी निराशा को कारण मानती है। वह उसके प्रति आकस्मिक गहन लगाव व करुणा अनुभव करती है, जिसे पाकर जितेन पुलिस के सामने आत्मसमर्पण कर देता है तथा अपने सम्पूर्ण दल के भरण-पोषण की जिम्मेदारी मोहिनी के सुपुर्द कर देता है। लेखक का लक्ष्य पाठक को इस तथ्य तक पहुँचाना है कि वास्तव में अपराध व्यक्ति का स्वभाव नहीं होता, बल्कि वह सामाजिक मानसिक दबाव व ग्रन्थि के बन्धन में कर बैठता है। प्रेम में विफलता और आर्थिक असमानता से उत्पन्न वर्गभेद की परिणति में व्यक्ति की सहजता बिखर जाती है और वह क्रान्तिकारी बनकर असामाजिक कार्य करने में तुष्टि पाने लगता है, लेकिन जब उसकी कुंठा की गाँठ खुल जाती है तो वह सामाजिक व्यक्ति के रूप में अपनी ग़लतियों का प्रायश्चित करने को तैयार हो जाता है। इस तरह 'विवर्त' में जितेन के मन की गाँठें अन्ततः खुलती हैं—और वह जीवन के कार्यकलाप से अलग होकर जेल जाना स्वीकार लेता है। नायक की लगभग यही परिणति अगले उपन्यास 'व्यतीत' (१९५३) में भी दिखायी पड़ती है। जयन्त अपने जीवन की २० से लेकर ४५ वर्ष की उम्र तक की कथा सुनाता है। २५ वर्षों के

जीवन में कुछ महत्त्वपूर्ण घटनाओं से अधिक जीवन में आयी नारियों के माध्यम से मानवीय सम्बन्धों की निगूढ़ता को व्यंजित किया है। जीवन की दौड़ में अपनी चूक से हारा और दिशा-भ्रमित नायक है। प्रणय की नुकीली पीड़ा को जिस शक्ति के साथ उभारा गया है, वह तनावपूर्ण है। यहाँ यह कहना जरूरी है कि जितेन या जयन्त कोई भी जैनेन्द्र के मन्तव्य को अभिव्यक्त करनेवाले पात्र नहीं हैं। उपन्यास के विकास में उनकी चर्चा भर की जा सकती है।

हाँ, १९५६ में प्रकाशित 'जयवर्द्धन' भले ही एक महत्त्वपूर्ण उपन्यास है, जिसे माचवे ने भविष्यवादी विचारों का उपन्यास, देवीशंकर अवस्थी ने पकड़ से बाहर का यथार्थवादी तथा युगसत्य निरूपक उपन्यास कहा है, यह उपन्यास मूलतः राजनीतिक सम्पर्क में व्यक्ति की मानवीय निजता और शासक की सामाजिकता के द्वन्द्व की कहानी कहता है। इसके नायक जयवर्द्धन की निजता मानवीय है और वह मानवीय निजता जब शासन से टकराती है तो अपने को ही ऊपर रखना चाहती है, जिसे शासन सहन नहीं करता है। जय को महसूस होता है यह पूरा राजनीतिक परिवेश सत्ता का परिवेश है, उसके निजी मानवीय परिवेश की इस परिवेश के साथ संगति नहीं बैठ सकती है। इसलिए वह सत्ता का त्याग करता है। इला उसकी प्रेमिका है, जिसके साथ वह वासनारहित प्रेम करता है, दोनों साथ रहते हैं। पहले तो इला के पिता की आज्ञा न पाने के कारण दोनों का विवाह नहीं होता, पर बाद में जयवर्द्धन इला से विवाह कर लेता है, पर फिर उसे छोड़कर चुपचाप चला जाता है। इस पलायन का कारण अस्पष्ट है। सम्भवतः इसका कारण जयवर्द्धन का निजता के प्रति घोर आग्रह है जो दाम्पत्य जीवन में टूट भी सकता है। स्पष्ट है कि जयवर्द्धन अपना अहं छोड़ नहीं सकता, जो प्रेम की शर्त है। मेरी दृष्टि में चरित्र-विकास की दृष्टि से यह एक अधूरा उपन्यास है। अतः जैनेन्द्रीय चिन्तन का प्रतिनिधि खोजना उचित न होगा। इसके लिए हमें उनकी कृति 'मुक्तिबोध' (१९६७) की चर्चा करनी होगी, जो अकादमी द्वारा पुरस्कृत और बहुचर्चित है। जैनेन्द्र के 'मुक्तिबोध' में सभी पात्र अपने-अपने अस्तित्व के प्रति अत्यधिक सजग हैं और

उसके लिए संघर्षशील भी हैं। मुख्य पात्र सहाय तो मानते हैं कि मूल में अस्तित्व है, उसी को बचाना है और बनाना है। इस आधार पर लोगों ने जीवन को समझा है, और समझाया भी है। लेकिन अस्तित्व स्वयं अपना प्रयोजन हो तो अन्त में मृत्यु क्यों आये? सहाय बहुत दूर तक जैनेन्द्र के चिन्तन और मूल्यों का प्रतिनिधित्व करते दिखते हैं। वे देश के खंडित होने की सम्भावना से पीड़ित हैं, राजनीति के नीतिहीन बन जाने से उद्विग्न हैं। जनता के खंडित होने की सम्भावना से वे पीड़ित हैं। राजनीति के सुख-दुख के विचार से दूर निकल गये नेताओं से उन्हें घृणा है। जीवन की सार्थकता, सारता, निस्सारता के विचार से वे विज्ञ हैं। . . . गांधी की आत्मा को प्रत्यक्ष देश-कार्य से निर्वासित करने वाले राजनीतिज्ञों से घोर वितृष्णा है। नीला सहाय की प्रेमिका है, जो उनकी कामवासना का आधार नहीं, बल्कि उच्च जीवनमूल्य और चिन्तन की प्रेरणा का स्रोत है, जीवन की ऊर्जा है। इसके बाद जैनेन्द्र का उपन्यास 'अनन्तर' (१९६८) प्रकाशित हुआ जो रेडियो के लिए लिखा गया। इस उपन्यास में पारिवारिक इकाई का महत्त्व प्रतिपादित हुआ है। परिवार समाज का एक घटक होता है, जो सम्पूर्ण विश्व को एक सूत्र में समेटे रहता है। हिन्दी संस्कृति की ओर उन्मुख नयी पीढ़ी को पुनः जीवनोन्मुखी करने की क्षमता भारतीय परिवार व्यवस्था में ही है। 'अनन्तर' में जैनेन्द्र ने यह बताने की कोशिश की है।

इसके बाद उनके 'अनामस्वामी' (१९७४) की चर्चा आती है जिसे 'त्यागपत्र' की अगली कड़ी कहना चाहिए। 'त्यागपत्र' का प्रमोद यहाँ जज पी. दयाल हैं जिन्होंने अपना त्यागपत्र देकर एक व्यवस्था पर करारी चोट की है, किन्तु उनका त्यागपत्र देना इस पीड़ा का अन्त नहीं है बल्कि मृणाल बुआ के प्रति अपने निष्क्रिय आचरण की अपराध-भावना से और विलक्षण ग्लानि से वे ग्रस्त हैं। ऐसी द्वन्द्वात्मक मनःस्थिति में उनका साक्षात्कार अनामस्वामी के साथ होता है और उनका चित्त शान्त होता है। अनामस्वामी को जैनेन्द्रजी ने एक विशेष व्यक्तित्व प्रदान किया है, जिनका एक विशिष्ट जीवन-दर्शन है। यह जीवन-दर्शन सामान्यतः गांधीवादी

विचारधारा से मेल खाता है और उतने ही घनिष्ठ रूप से भारतीय संस्कृति से जुड़ा हुआ है, जितना गांधीजी का जीवन-दर्शन जुड़ा हुआ था। अनामस्वामी ने ब्रह्मचर्य को जीवन का सबसे श्रेष्ठ सिद्धान्त स्वीकार किया है; क्योंकि मनुष्य और पशु के बीच इसी के आधार पर अन्तर किया जा सकता है और मनुष्य को 'श्रेष्ठ प्राणी' की कोटि में रखा जाता है।

मानव-चरित्र का भिन्न-भिन्न स्तर पर विश्लेषण करने के क्रम में जैनेन्द्र हमें 'दशार्क' तक पहुँचाते हैं। १९८५ में प्रकाशित यह उनका बारहवाँ उपन्यास है। लोकजीवन में स्त्री-पुरुष का संयोग किस तरह श्रेयस्कर हो सकता है, जैनेन्द्र के इसी चिन्तन का परिणाम है 'दशार्क'

समाज में फैली वेश्यावृत्ति की समस्या को ज्ञान के माध्यम से सुलझाने में लेखक समाज का हित देखते हैं। अँधेरे में रोग के कीटाणु फैलते हैं, पर प्रकाश पड़ते ही मर जाते हैं। जीवन की जड़ में प्रेम है और व्यवस्था की जड़ में पैसा, इसलिए दोनों का आपसी टकराव होता है। 'दशार्क' का मूल्यबोध है–दाम्पत्य भावना। परन्तु जैनेन्द्र स्पष्ट करना चाहते हैं कि दाम्पत्य-भावना को विशिष्ट मान्यता देने के लिए कोमल प्रेम के द्वारा उसका स्वरूप-विश्लेषण कर देने से सम्भव नहीं होता है। निश्चय ही प्रेम-भाव के होते हुए दाम्पत्य-भावना अपनी विशिष्टता रखती है, वह यह कि प्रेमभाव में जहाँ दायित्व-निर्वाह का बौद्धिक आधार नहीं है, वहाँ दाम्पत्य-भावना में दायित्व-निर्वाह अनिवार्य है, यही कारण है कि भारतीय परिवारों में दाम्पत्य-भावना को प्रेमभाव की पराकाष्ठा के रूप में स्वीकार किया गया है, जिसको साहित्यिक शब्दावली में स्वकीया अनुरक्ति कहते हैं।

'दशार्क' की नायिका रंजना अपने जीवन की घटनाओं से समाज का मूल्यांकन करती है। अर्थाभाव की निराशा से टूटकर उसका पति इतना विक्षिप्त हो जाता है कि अपने विकार और गुस्से का शिकार अपनी पत्नी को ही बना डालता है। वह अपनी पत्नी को पीटता और घर से निकाल देता है। रंजना अपने दाम्पत्य जीवन के इस विघटन के लिए तैयार न थी, पर अपनी इस नियति का सामना करते

हुए उसने अपने जीवन को एक नया मोड़ दिया। उसने महसूस किया कि समाज में दाम्पत्य-जीवन को स्वस्थ बनाने की जरूरत है, जो अक्सर पुरुष के विकारग्रस्त व्यक्तित्व के कारण अस्वस्थ हो रहता है। इस प्रकार की परिस्थिति में एक नयी रंजना ने सरस्वती के रूप में जन्म लिया। रंजना ने बौद्धिक वेश्यावृत्ति का व्रत लिया इस विश्वास के साथ कि थके हुए निराश पुरुषों को प्रेम देकर उनमें नयी आशा जगाने का कार्य करेगी, जिसकी एक विशेष फीस भी होगी। अपने लिए रंजना कहती है—'हम ऐसे कूड़ेदान हैं जिसमें पूरी जिन्दगी डालकर शहर एवं समाज को स्वच्छ रखा जाता है। पैसा भलाई से कभी नहीं आता, बइमानियों में से आता है।' रंजना अपने इस कार्य को चरित्रहीनता नहीं मानती है और न सामाजिकता का उल्लंघन मानती है। वह तन का व्यापार नहीं करती, मन का व्यापार करती है। आज कि दृष्टि से देखा जाय तो वह एक मनोवैज्ञानिक चिकित्सक का कार्य कर रही होती है। भगिनी समाज की अध्यक्षा शेफालिका भी उससे प्रभावित होकर वेश्याओं की बस्ती में जाती है और उन्हें तन के धन्धे के बजाय मन के महत्त्व को समझाती है। उपन्यास के अन्त में स्वामी अभेदानन्द तथा मन्त्रीजी के कहने पर रंजना अपने पति शेखर को अपना लेती है और शोहरत व पैसा छोड़कर अपना पारिवारिक जीवन जीने लगती है। इस प्रकार जैनेन्द्र समाज की इकाई परिवार को मानते हैं और पूरी कोशिश करते हैं कि उसका विघटन न हो। वस्तुतः जैनेन्द्र ने गांधीवादी आदर्शों को अपने चिन्तन तथा सृजन में व्यावहारिक रूप दिया तथा उससे नैतिकता सम्बन्धी मूल्यों को पुष्ट किया, ताकि मानव समाज उन्नति की दिशा और राह चुन सके।

जैनेन्द्र का स्त्री-विमर्श

—रोहिणी अग्रवाल

जैनेन्द्र कुमार को पढ़ने पर अक्सर पहली प्रतीति यही होती है कि उनका साहित्य किंचित् जटिल है- उलझाव एवं द्वन्द्व से भरा। तब अनायास एक प्रश्न उठता है कि इस जटिलता का कारण यह तो नहीं कि वे प्रेम, विवाह, स्त्री, स्त्री-पुरुष सम्बन्ध, समाज एवं व्यवस्था जैसे सनातनी महत्त्व के जटिल विषयों पर लीक से हट कर नयी मान्यताएँ प्रस्तुत करना चाहते रहे हों? या कहीं बहुत गहरे ईमानदारी से मन-ही-मन महसूस करते रहे हों कि इन सबको लेकर उनकी निजी सोच बहुत ज्यादा स्पष्ट नहीं है? अथवा स्पष्टता का आभास तो है लेकिन उसे बेलाग भाव से दो टूक कहने का नैतिक साहस वे अपने भीतर न पाते हों? दरअसल जैनेन्द्र का समूचा उपन्यास साहित्य उनके अन्तर्द्वन्द्व का साक्षी है जहाँ 'टू बी और नॉट टू बी' की स्थिति में वे दोनो पालों में अधिकारपूर्वक घुस भी जाना चाहते हैं और दोनों ओर की खामियों को समझते हुए उन्हें खारिज भी कर डालना चाहते हैं। इन सबसे ऊपर एक तीसरी स्थिति – स्रष्टा और स्वप्नद्रष्टा – उन्हें रास नहीं आती। फलतः नितान्त अपने से ही टकराहट! अपनी ही सीमाओं का अतिक्रमण करने की चाहना में उनके खूँटे मजबूत–दर–मजबूत करते चले जाने की खौफनाक प्रतीति!

कोई भी रचना अपनी मूल बुनावट में विचार के झीने सूत्र में बँधी लेखक की संवेदना–कल्पना–अन्तर्दृष्टि का सम्यक् विन्यास होती है जो भीतर की अकुलाहटों और बाहरी दबावों के घात-प्रतिघात से टूटते-बनते लेखक के अमूर्तप्राय अवचेतन को मूर्त और साकार करती है। लेखक की निजता संवेदना की तरलता, विचार की तार्किकता और कल्पना की सृजनशीलता में गुँथ कर उसे जो व्यक्तित्व देती है, वह वस्तुतः विचार की भित्ति पर ही टिका होता है। कविता में विचार अनुभूतिजन्य भावोच्छ्वास की सघनता/सान्द्रता में गाढ़ा हो जाता है तो कथा में अनुभवों की शृंखला में बँट-बँट कर विरल हो जाता है। विचार ही जीवन को देखने, जीने और

पुनर्सृजित करने का आधारभूत घटक है। संवेदना, कल्पना, दृष्टि, अन्तर्दृष्टि, संस्कार आदि उसकी विविध परिणतियों की विविध संज्ञाएँ भर हैं। इसलिए बेहद जरूरी हो जाता है कि जैनेन्द्र कुमार के समग्र मूल्यांकन के लिए विचारक जैनेन्द्र और सर्जक जैनेन्द्र को आमने-सामने रख कर एक-दूसरे की पारस्परिकता में जाँचा जाय ताकि सर्जक कलाकार की स्वयं को छुपाने, कैमाफ्लाज करने की चतुर प्रकृति के भीतर निहित उसकी अपनी रंगत को दृष्टिओझल न होने दिया जाय।

दूसरे, काल के अविच्छिन्न प्रवाह से उठा कर अलग-अलग औपन्यासिक कृतियों पर समग्र भाव से पूर्ण इकाई मान कर अलग-अलग बात न की जाय वरन् उन्हें कालानुक्रम, कार्य-कारण संगति और विचार-पल्लवन की शृंखला में रख कर समग्र भावबोध तक पहुँचाने में सहायक छोटी-छोटी सरणियाँ माना जाय। तभी तमाम गदगद प्रशस्तियों और कटुतर आलोचनाओं से निस्पृह हो कर जैनेन्द्र के मूल्य और महत्त्व को आज के दौर में समझना सम्भव होगा। बेशक हर रचनाकार अपने वक्त के बीचोंबीच धँस कर वक्त द्वारा बुनी गयी विकृतियों और विसंगतियों पर ही प्रहार करता है और इस समूचे प्रयास में उसका ओर-छोर पूरी तरह वर्तमानता में निबद्ध होता है, लेकिन अनजाने ही इस प्रक्रिया में वक्त का अतिक्रमण कर भविष्य को गढ़ने का अतिरिक्त प्रयास भी सतह के नीचे चलता रहता है। चूँकि मनुष्य ही अपनी प्रवृत्तियों और मनोभावनाओं के साथ वक्त और समस्या के केन्द्र में होता है, अतः आत्माभिमान की रक्षा में उसकी हर फिसलन और हर जद्दोजहद अपनी आन्तरिक ऊर्जा के साथ हमेशा नयी बनी रहती है। इसी में निहित है रचना की वर्तमानता जो बदले वक्त की कसौटियों से घबराती नहीं, उन कसौटियों की वजह से अपने गर्भ में छुपी कितनी ही व्यंजनाओं को उभार कर नव्यतर होती चलती है। जैनेन्द्र प्रारम्भ से ही स्त्री–मन के चितेरे कथाकार कहे जाते हैं। इसलिए अस्मिता–विमर्श के परिप्रेक्ष्य में उनकी स्त्री-दृष्टि को जाँचना काफी दिलचस्प हो जाता है। लेकिन मुश्किल यह है कि जैनेन्द्र का वैचारिक पक्ष उनके भीतर के सर्जक कलाकार को पूरी तरह उभरने नहीं देता। कथा में जब-जब परिवेशगत प्रभावों या

परिस्थितिजन्य दबावों के चलते पात्र मौजूदा ढाँचे में तोड़-फोड़ कर स्वतन्त्र राहों का अन्वेषण करने लगते हैं, लेखक किसी गुरु गम्भीर पात्र/भंगिमा में उपस्थित हो उसे दूसरी दिशा में मोड़ देता है। रचना की भूमिका में वह यह रेखांकित करने के लिए तो उपस्थित है कि "पाठक पुस्तक में मुझे मुश्किल से पायेगा। यह नहीं कि मैं उसके प्रत्येक शब्द में नहीं हूँ। लेकिन पुस्तक के जिन पात्रों के माध्यम से मैं पाठक को प्राप्त होता हूँ, प्रत्येक स्थान पर पात्रों के अनुरूप होकर मेरा रूप लुप्त हो जाता है। उन्हें सामने करके मैं ओट में हो जाता हूँ। सृष्टि स्रष्टा को छिपाये है। मुझे भी अपने इन पात्रों के पीछे छिपा मानें। हर सृष्टि स्रष्टा को ही व्यक्त करती है. और यह पुस्तक मुझे व्यक्त करने को बनी है। फिर भी सृष्टि ही तो दीखती है, स्रष्टा कहाँ दीखता है?" (प्रस्तावना, 'सुनीता')

यही नहीं, कुहेलिका और कुहासे रच कर पाठक को भरमाने में उन्हें विशेष आनन्द आता है। अपनी ही औपन्यासिक सृष्टि कल्याणी की तरह "चार में तीन हिस्से बात अनकही रख कर सिर्फ एक हिस्सा" कहेंगे और पाठकों से अपेक्षा करेंगे कि "समझने को काफी हो गया"। (कल्याणी, पृ.१०७) व्यक्तिगत तौर पर कल्याणी की इस 'अनबूझ' प्रकृति पर भले ही उन्हें रोष हो, रचयिता के रूप में वे इस पर सौ-सौ बार निछावर हैं–"मैंने जगह-जगह कहानी के तार की कड़ियाँ तोड़ दी हैं। वहाँ पाठक को थोड़ा कूदना पड़ता है... कहीं एक साधारण भाव को वर्णन से फुला दिया है, कही लम्बा सा रिक्त (गैप) छोड़ दिया है, कहीं बारीकी से काम लिया है, कहीं लापरवाही से, कहीं हल्की धीमी कलम से काम किया है, कहीं तीक्ष्ण और भागती से। और मैं समझता हूँ पाठक के लिये यह थोड़ा आयास वांछनीय होता है।" (परख, लेखक के कुछ शब्द) जाहिर है जैनेन्द्र का मूल्यांकन व्यक्त की मीमांसा नहीं, रिक्तियों (गैप) को पाटने और फुलावट के खोखलेपन को जाँचने का कौशल माँगता है। तब एक हैरतअंगेज़ बात उभर कर आती है कि एक-दूसरे से विच्छिन्न उपन्यासों- विशेषकर परख, त्यागपत्र, कल्याणी– का पृथक् एकाकी पाठ जहाँ जैनेन्द्र को प्रगतिशील चेतना से सम्पन्न रैडीकल तरुण उपन्यासकार के रूप में दर्ज करता है,

वहीं एक-दूसरे की परस्परता में उनकी परवर्ती रचनाओं के साथ जुड़ कर उन्हें आत्मरतिग्रस्त बुर्जुआ उपदेशक घोषित कर जाता है।

यह अनायास नहीं कि जैनेन्द्र कुमार ने अपने उपन्यासों में नारी को केन्द्रीय स्थिति दी है। राष्ट्रीय-अन्तरराष्ट्रीय फलक नारी की मानवीय उपस्थिति को कबूल कर उसके अधिकार और दायरे के विस्तार की बात करने लगा था। मेरी वोलस्टनक्राफ्ट (स्त्री अधिकारों का औचित्य, रचनाकाल १७९२), जे. एस. मिल (स्त्रियों की पराधीनता, रचनाकाल १८६९) तथा वर्जीनिया वुल्फ (अपना कमरा, रचनाकाल १९२९) की बात छोड़ दें तो भी समाजसुधार आन्दोलन से आलोड़ित समूचा राष्ट्र सावित्रीबाई फुले, पंडिता रमाबाई, ताराबाई शिंदे जैसी समाजसुधारकों और सरोजिनी नायडू, राजकुमारी अमृत कौर, हंस मेहता, विजयलक्ष्मी पंडित जैसी राजनेताओं के साथ स्त्रीचेतना को एक नयी करवट लेते देख रहा था। साहित्यिक विरासत के रूप में जैनेन्द्र के सामने नारी समस्याओं के प्रस्तोता प्रेमचन्द थे तो नारी के अन्तरमन में उतर कर उसकी पीड़ा और आँसुओं के भीतर दबी निजता का आकलन करते शरतचन्द्र थे। सामाजिक कुरीतियाँ और स्त्रीहृदय–साहित्य में जमने के लिए यही दो बीज शब्द थे उस समय जिन्हें जैनेन्द्र ने ताउम्र अपने लेखन का आधार बनाये रखा। इसलिए आश्चर्य नहीं कि 'परख' (१९२९) में बाल-विधवा कट्टो कथा के केन्द्र में है–लेखक की तमाम सहानुभूति और चीत्कारों के साथ। न, लेखक "कट्टो का शून्य रुष्ट भविष्य" और "हाहाकार से भरा" कमनसीब देख कर धाड़ें मार कर रोते नहीं, रैडीकल चिन्तक की मुद्रा में 'सुखी' लोगों की खुदगर्जी को चुनौती देने लगते हैं–"क्या दुनिया के प्रति हम निश्चिन्तों का कोई कर्तव्य नहीं है? क्या संसार का सारा सुख हथिया लेना अन्याय नहीं है उनके प्रति जिन्हें जिसका कण भी नही मिल पाया है?" (परख, पृ. २८) फिर चिन्तक की दूरी पाट कर वे सत्यधन में समाहित हो कट्टो के प्रति अपने दायित्व को भी समझने लगते हैं–"कट्टो को इसी तरह रहने देकर मैं कैसे विलास गर्त्त में डूब सकता हूँ?" और पूरे होशोहवास में इस सामाजिक विकृति का संज्ञान लेते हुए इसे दूर करने का

समाधान भी जुटाते हैं–विधवा पुनर्विवाह। जरूरत है एक सुपात्र की और समाजसुधार आन्दोलन के उस जुनूनधर्मी युग में ऐसे सुपात्रों को ढूँढ निकालना कोई कठिन काम भी नहीं। परिदृश्य में मौजूद है सत्यधन के मित्र-रूप में रईस बाप का आदर्शवादी सपूत बिहारी–"डूबते को बचाने के लिए वह किसी झिझक में पड़ कर देर नहीं करेगा... फौरन कूद पड़ेगा... और जितना ही मुश्किल काम होता है, उतनी ही तत्परता और आनन्द से वह उसमें कूद पड़ना चाहता है।" (परख, पृ.२९)

विधवा–विवाह का 'संजीदगी' से समर्थन करने वाले जैनेन्द्र 'त्यागपत्र' में मानो पूरी समाजव्यवस्था को ही हिला देने का बीड़ा उठाये हुए हैं। मृणाल के बहाने वे स्त्री के जीवन की हर अवस्था पर काबिज हृदयहीन विवाह संस्था के घिनौने रूप को उघाड़ते चलते हैं जो स्त्री से जीने का अधिकार छीनती है और स्वाभिमानपूर्वक जीने की हर कोशिश को अनैतिक करार देती है। जिंदगी के बहाव में तिनके की तरह बह निकलने की निरुपायता की अपेक्षा जिंदगी के हर दोराहे पर स्वयं अपने विवेक और आत्माभिमान से निर्णय लेकर स्वयं अपनी राहों का अन्वेषण करती मृणाल हिन्दी साहित्य की पहली आधुनिक स्त्री है जो स्त्रीमुक्ति का परचम लहराये बिना नारीमुक्ति के मर्म को समझ सकी है और मुक्त नारी का ज्वलन्त उदाहरण बन कर उभरी है। यही नहीं, उपन्यास के पाठ के दौरान यह भी महसूस होता है कि लेखक मृणाल–सी 'दीपशिखाओं' को लील कर स्वयं उन्नत होते समाज और उस समाजव्यवस्था को संरक्षित करते तथाकथित 'प्रतिष्ठित' व्यक्तियों के भीतरी सतहीपन से खासे रुष्ट हैं। इसलिए कभी वे अपने प्रवक्ता प्रमोद के आत्मधिक्कार की नियोजना करते हैं[१] और कभी बेहद तिक्त भाव से स्वयं कथा में प्रवेश कर 'लड़ते-झगड़ते अपने छोटे से वृत्त की परिधि में' 'चलते-भटकते' तुच्छ जीवों की खबर लेने लगते हैं।[२] इनके ठीक विलोम में 'दो हाथ बढ़ा कर अगम जल में जा उतरी' मृणाल नैतिकता के जिन प्रतिमानों को रचती है, वे पाखंडपूर्ण व्यवस्था के नकाब से छिटक कर सच को सच और झूठ को झूठ कहने का नैतिक साहस ही तो हैं। उदाहरणार्थ "मैं छल नहीं कर सकती" में ईमानदारी का उद्घोष है तो "मैं नहीं जा

सकती.... जिनको साथ लेकर पति को छोड़ आयी हूँ उनको मैं छोड़ दूँ?... पापिनी हो सकती हूँ, पर क्या उसके ऊपर बेहया भी बनूँ?" में दायित्वबोध है। "मैं स्त्री धर्म ही मानती हूँ। उसका स्वतन्त्र धर्म मैं नहीं मानती हूँ। क्यों पतिव्रता को यह चाहिए कि पति उसे नहीं चाहता, तब भी वह अपना भार उस पर डाले रहे? मुझे देखना भी नहीं चाहते, यह जान कर मैंने उनकी आँखों के आगे से हट जाना स्वीकार कर लिया"–यह संकल्प मृणाल के स्वाभिमान की आभा से दीप्त है तो "जानती हूँ कि इस आदमी को (कोयलेवाला) मुझसे विरक्ति हो रही है... अब उसका मोह टूट गया है। वह जान गया है कि मैं उसकी सरबस नहीं हूँ। मैं बस एक बदजात, बदकार, बाजारू औरत हूँ... (लेकिन) जब तक पास है, तब तक वह पुरुष अन्य नहीं है। मेरा सब कुछ उसका है... मेरी कोशिश है कि वह मुझसे उकता जाए। मैं उसे परिवार में लौटा कर ही मानूँगी" में निर्द्वन्द्व भाव से अपने निर्णय को क्रियान्वित करने तथा उसकी परिणति को झेलने की निश्चयात्मकता है। पितृसत्तात्मक व्यवस्था अपने सघन प्रसार के बावजूद स्त्री को पैर टिकाने को रंचमात्र जगह देने में भी अनुदार रही है। लेकिन उसी व्यवस्था को अंगूठा दिखा कर अपने लिए स्पेस बनाती मृणाल को रच कर जैनेन्द्र जगह को अच्छे–बुरे बुर्जुवा विशेषणों से मुक्त कर पानी की-सी रंग-गन्धहीन अनिवार्यता में लय कर देना चाहते हैं– "जगह को अच्छी कौन कहता है, पर जगह तो है। कभी जगह भर होने का सवाल ही बड़ा होता है।" मुक्ति के बाद निर्माण की सर्जनात्मक पीठिका जगह की पुख्ता उपलब्धि के बिना सम्भव नहीं।

'कल्याणी' में जैनेन्द्र स्त्री सरोकारों को नये आयाम देते हुए 'गोदान' की मालती के आर्थिक स्वावलम्बन और आत्मविश्वास को डॉ. कल्याणी में सतत द्वन्द्व का रूप देते नजर आते हैं–पत्नीत्व या निजत्व? न, मालती जैसी अनगिन कामकाजी स्त्रियों को सदा गृहस्थी के घेरे में नहीं रखा जा सकता, लेकिन गृहस्थी की पारम्परिक जकड़बन्दी क्या उन्हें अपेक्षित स्वतन्त्रता दे पायेगी? "मैं उनकी गृहिणी की तरह रहूँ तो... गिरिस्ती संभालना मेरा काम होगा। सेवा के अतिरिक्त

और मेरा वास्ता नहीं। तब मुझे बाहरी काम या बाहरी आदमी से सरोकार नहीं। ... मैं आपके मन की गृहलक्ष्मी बन कर स्वयं भी रहना चाहती हूँ। पर वह तभी रह सकती हूँ जब डॉक्टरनी न रहूँ। डॉक्टर होकर अंतःपुर की शोभा मुझसे बहुत न बढ़ेगी। उस हालत में हर किसी के सामने मुँह उघाड़े मिलना और बोलना होता है। यह आर्य नारी के योग्य नहीं है" – कल्याणी की इस संस्कारग्रस्तता के ठीक सामने चुनौती और आह्वान बन कर खड़ी है उसके भीतर की नवोदित उर्जस्विता जो तमाम बेड़ियाँ झटक कर अपने पैरों पर खड़े होने का विश्वास अर्जित कर चुकी है। लगता है जैनेन्द्र अपने समय से बहुत आगे जाकर इस स्त्री की द्वन्द्वग्रस्तता, पीड़ा, निर्णयक्षमता तथा आरोपित निस्सारता को बेहद मारक ढंग से समाज के समक्ष रखना चाहते हैं। कल्याणी की घुटन और आत्मपीड़न में उसकी मानवीय स्वतन्त्रता की माँग निहित है, ठीक उसी प्रकार जैसे मृणाल की निरीह पतनशीलता में समाज व्यवस्था की नृशंसताएँ नग्न हो जाती हैं।

जाहिर है ये तीनों उपन्यास एकमत हो जैनेन्द्र को हिन्दी का सशक्त स्त्रीवादी विमर्शकार बनाते हैं–स्त्री की निजता, अस्मिता और मानवीय गरिमा का पैरोकार। लेकिन इतना इकहरा और एकाकी नहीं हुआ करता किसी भी रचना का पाठ। पाठ के भीतर बुना गया अन्तर्पाठ और प्रतिनिधि चरित्र के समानान्तर खड़े अन्य गौण पात्र अपनी अदृश्यता और अकिंचनता के बावजूद चेतना के स्तर पर निरन्तर कुछ अन्तर्ध्वनियाँ बुनते-गूँथते रहते हैं—कभी बेहद सन्निकट वर्तमान की क्षीणप्राय उर्वरताओं का दामन थाम कर और कभी अगले मोड़ पर खड़े भविष्य को दामन में बाँधने की आतुरता के साथ। दरअसल भीतर और बाहर एक-दूसरे के मर्म को पकड़ती कोशिशें ही किसी भी पाठ को मुकम्मल बनाती हैं। तब लगता है कि 'परख', 'त्यागपत्र' और 'कल्याणी' का भावोच्छ्वासपरक प्रशस्तिमूलक पाठ क्या प्रखरतर होती युगीन पदचापों को अस्वीकारने, अनास्थावादी भंगिमा ओढ़ कर नैतिकतामूलक पूर्वग्रहों को पुनर्स्थापित करने और परिवर्तन की आवेगमयी लहर से अपने को बचा ले जाने का अभिजात उपक्रम तो नहीं? अन्यथा क्या वजह है

कि 'परख' में कट्टो-बिहारी-विवाह विधवा-विवाह की संज्ञा पा लेखक की प्रगतिशीलता पर वाहवाही लूटता है, विधवा-विवाह बनाम 'वैधव्य यज्ञ' के असली स्वरूप की चीरफाड़ करने की कोशिश नहीं करता जिसे लेखक ने मात्र एक ही शब्द से परिभाषित किया है—'आत्म-आहुति'। बेशक यहाँ भी विवाह से जुड़े स्थूल कर्मकांड उपस्थित हैं। मसलन, हल्दी में रंगी कच्चे सूत की पीली वरमाला, छोटे से घूँघट में अलंकृत निराभरण वधू कट्टो, जयमाल की पारम्परिक रीति और पति के चरणस्पर्श करती सद्य परिणीता पत्नी, लेकिन यहाँ विवाह का आशय एक-दूसरे को सुख देकर पूर्णतर होना नहीं है, धरती की गंगा और आकाशगंगा के समान सदा-सर्वदा समानान्तर स्थिति में "दूर, फिर भी बिल्कुल पास; अलग फिर भी अभिन्न; दो फिर भी एक" बने रहने का कठिन यज्ञ सम्पन्न करना है। तब सवाल उठता है कि लेखक की यह दार्शनिक मुद्रा वैधव्य के अभिशाप को सामाजिक सन्दर्भ से काट कर मनोहारी प्रपंच की रचना करने के लिए तो नहीं? मूर्त का अमूर्तीकरण करते हुए भरी-पूरी शख्सियतों के साथ जुड़ी त्रासद चीत्कारों को किन्हीं अतल गहराइयों में दफन करने की कलावादी युक्ति? खास कर उस युगीन परिवेश में जब महर्षि कर्वे जैसे समाजसुधारक स्वयं विधवा से विवाह कर सामाजिक अपमान और तिरस्कार को बेहद संयम के साथ झेल रहे थे। कहना न होगा कि कट्टो और बिहारी को सेवा और त्याग के रूपक में बाँध कर जैनेन्द्र जिस समाज की रचना का स्वप्न देखते हैं, वहाँ व्यक्ति, व्यवस्था और सम्बन्धों के संजाल का पुनरीक्षण सम्भव ही नहीं।

जरा सा धरातल बदलते ही 'परख' की भाँति 'त्यागपत्र' का औदात्य भी भरभरा कर गिर पड़ता है। नैतिकता की नयी सैद्धान्तिकी गढ़ती मृणाल पल भर को भी पितृसत्तात्मक व्यवस्था के प्रभाव से मुक्त नहीं हो पायी है। वह अपने होने को महसूसती है, लेकिन अपने लिये नहीं, पति या पति से इतर दूसरे पुरुष के लिए। उसी पुरुष की सेवा में रत रहना उसका स्त्री-धर्म है—पातिव्रत्य का नया रूप। "मेरा अस्तित्व मेरे लिए नहीं है" का उद्‌घोष करती मृणाल के भीतर तक वर्चस्ववादी वर्ग की यह मान्यता धँसी हुई है कि समाज के टूटने से व्यक्ति और व्यवस्था दोनों ही नष्ट

हो जायेंगे। इसलिए अपने विद्रोह के विस्तीर्ण फलक को आत्मपीड़न की संकुचित परिधि देकर वह साफ तौर पर अपनी नियति चुन लेती है कि "मैं समाज को तोड़ना-फोड़ना नहीं चाहती हूँ। समाज टूटा कि फिर हम किसके भीतर बनेंगे? या कि किसके भीतर बिगड़ेंगे? इसलिए मैं इतना ही कर सकती हूँ कि समाज से अलग होकर उसकी मंगलाकांक्षा में खुद ही टूटती रहूँ।" (पृ. ५४) मृणाल के स्वैच्छिक विकल्प के रूप में समाज की मुख्यधारा से कट जाने का उद्योग स्वयं लेखक के लिए निरापद अवस्था नहीं है। दरअसल यहीं कहीं सर्जक जैनेन्द्र और विचारक जैनेन्द्र के अन्तर्विरोध स्पष्ट होने लगते हैं। सर्जक की भूमिका में अपने युग, मान्यताओं और 'स्व' का अतिक्रमण कर जब वे मृणाल के जरिए पदाक्रान्त नारी-नियति से जुड़ते हैं तो मानवीय संवेदना, मानवीय गरिमा और मानवीय सम्बन्ध के काम्य जगत् में प्रविष्ट होते हैं जहाँ पूर्वग्रह और वर्जना, संस्कार और भय से विहीन नवजीवन के नये विधान में सभी सम हैं– सहृदय और संवादरत। इसलिए आश्चर्य नहीं होता कि पतिगृह छोड़ कर गन्दे व्यभिचार में रहने वाली मृणाल पतिधर्म की प्रवक्ता बन जाती है; अपनी व्यर्थ की प्रतिष्ठा के ढूह पर बैठा व्यक्ति आत्मसाक्षात्कार के विरल क्षण में देख पाता है कि उसके शरीर में 'क्या राई जितनी भी आत्मा है'; और उसी जुनून में हर अकरणीय के लिए दूसरे को दोषी ठहराने की 'मानवीय' प्रवृत्ति से पिंड छुड़ा कर स्वयं अपने को कटघरे में खींच लाने का नैतिक साहस बटोर पाता है–"अगर मेरे मन में (सामाजिक विधान और विधाता के प्रति) दोष उठे बिना नहीं रहता तो मैं उसे किसी को भी क्यों दूँ स्वयं ही क्यों न ले लूँ?... जो जगत् की कठोरता का बोझ स्वेच्छापूर्वक अपने ऊपर उठा कर चुपचाप चले जाते हैं; और फिर समय आने पर इस धरती माता से लग कर उसी भाँति चुपचाप सो जाते हैं, मैं उनको प्रणाम करता हूँ।" (पृ. ३६) तब सिर्फ मृणाल नहीं, लेखक भी मानो चिड़िया की तरह अपने नन्हे-नन्हे पर खोल सुदूर आकाश के कोने-अंतरों को नाप आना चाहता है। मुक्ति की प्रतीति सृजन की शक्ति की परिचायक है और सर्जक की विलक्षण अन्तर्मेधा की भी। लेकिन इस प्रतीति को अन्तिम टेक की तरह

उपन्यास में बुनने की अपेक्षा जैनेन्द्र इसके प्रभाव को खंडित करने में जुट जाते हैं। कारण, उनका विचारक व्यक्तित्व सृजन के सम्मोहन से बाहर आकर अपने वर्चस्व को डगमगाते महसूसता है। वह मृणाल से औदात्य नहीं छीन सकता, लेकिन उसमें मनमानी रंगत भर सकता है। इसलिए कोयलेवाले को पुनः उसकी गृहस्थी में लौटा लाने के अनासक्त योग में लिप्त मृणाल अन्ततः स्त्रीधर्म की प्रवक्ता बन जाती है- पथभ्रष्ट होकर भी स्त्रीधर्म को अलंघ्य ऊँचाइयों तक ले जाने वाली सती, जिसकी तुलना कोढ़ी-अपंग पति को कन्धों पर लाद कर वेश्या के द्वार तक ले जाती सती से ही की जा सकती है। जाहिर है इसके बाद समाज की मंगलाकांक्षा में खुद टूटने की बात आत्मोत्सर्ग की मिसाल बनाने के लिए अनिवार्य हो जाती है। किन्तु सवाल अन्त तक बना रहता है कि मृणाल से पहले भी स्त्रियाँ किसी-न-किसी सामाजिक-नैतिक अनाचार की शिकार होकर टूटती रही हैं; बाद में भी पूर्ववत् टूटती रही होंगी, लेकिन समाज तो यथावत् है–कठोर, अहम्मन्य और आत्मरतिग्रस्त। फिर किसकी मंगलाकांक्षा? क्या प्रमोद जैसे पाखंडी सम्भ्रान्त की, जो बुआ की उँगली पकड़ न तो 'समाज की जूठन' को अपने जीवन की पूँजी बना पाता है और न ही बुआ की लड़ाई में उसके साथ अविचल खड़े रहना चाहता है? क्या शेष आधी दुनिया के बौद्धिक-नैतिक-मानसिक स्खलन को ढाँपने के लिए मृणाल टूटती रहे और सिविल सर्जन बन कर भी अविवाहित रहने का शहादत भरा भाव ओढ़ कर शीला का भाई मृणाल की जिंदगी में तूफान लाता रहे? निस्सन्देह मृणाल का विद्रोह समाज की अन्दरूनी दरकनों को उजागर करने का सबब बना है, लेकिन लेखक की पलायनवादी बौद्धिक-दार्शनिक भंगिमा के कारण कोई रचनात्मक परिप्रेक्ष्य ग्रहण नहीं कर पाता –"जो कहानी सुनी है, उसे कैसे झेलूँ?... इलाज यही था कि मैं उसके तले से बच कर चला जाऊँ। चला जाऊँ अपनी उसी दुनिया में जहाँ वस्तुओं का मान बँधा हुआ है और कोई अकेला नहीं है। जहाँ रास्ता बना-बनाया है और खुद को खोजने की जरूरत नहीं है। जिज्ञासा जहाँ शान्त है और प्रश्न अवज्ञा का द्योतक।" (पृ. ५२) अपनी अन्तिम परिणति में वह नयी नैतिकता का आख्यान करती 'दशार्क' की

रंजना का बीज बन कर रह जाता है।

विचारक जैनेन्द्र यहीं तक सीमित नहीं रहते, घोषित तौर पर मृणाल-प्रकरण को हाशिये पर फेंक उसकी अकिंचनता को रेखांकित करते हुए नायकत्व से भी वंचित कर देना चाहते हैं। परतों के बीच छिपे टुकड़ा-टुकड़ा सत्य को बटोर कर अखंड रूप देने की अपेक्षा वे अभिजात तन्त्र की चौकस पहरेदारी में जुट जाते हैं कि "जो समाज में हैं, समाज की प्रतिष्ठा कायम रखने का जिम्मा भी उन पर है। उनका कर्त्तव्य है कि जो उसके उच्छिष्ट हैं या उच्छिष्ट बनना पसन्द करते हैं, उन्हीं को जीवन के साथ प्रयोग करने की छूट हो सकती है। . . . सत्य को सदा नये प्रयोगों की अपेक्षा है, लेकिन उन प्रयोगों में उन्हीं को पड़ना और डालना चाहिए जिनकी जान की अधिक समाज-दर नहीं रह गयी है।" (त्यागपत्र, पृ. ५४) यह मृणाल जैसों से भयभीत वर्चस्ववादियों का कायरतापूर्ण अभिमान नहीं तो और क्या है? जाहिर है तब जैनेन्द्र के तईं मृणाल, कट्टो, कल्याणी अपनी मानवीय अस्मिता के लिए जूझती जीवन्त नारियाँ नहीं रहतीं, उच्छिष्ट वर्ग की न्यूनतम समाज–दर वाली इकाइयाँ भर बन जाती हैं जो मनचाहा प्रयोग करें और टूट कर खील-खील हो जायें। सभ्य समाज को उनसे क्या? बेशक उपन्यास की भूमिका में प्रविष्ट होकर वे एक ही रटन्त रटते हैं कि उपन्यास वही काम का है जिसमें "दुनिया का कुछ उठा हुआ, उन्नत कल्पित रूप चित्रित किया जाता है" : कि जिसमें "सत्य में स्वप्न का पट देकर, वास्तव में कल्पना मिला कर, व्यवहार से आदर्श का साम्य और सामंजस्य स्थापित कर और वर्तमान पर भविष्य का रंग चढ़ा कर" जीवन का वह रूप प्रस्तुत किया जाता है "जिससे हठात् एक नयी चीज हृदय में बैठ जाती है और जो 'मस्तिष्क की विवेचना को पार कर हृदय की अनुभूति में सीधी जाकर चुभती है कि चाहे मस्तिष्क बौखलाया ही रह जाय, हृदय हिल जाता है।" (परख, लेखक के कुछ शब्द) लेकिन उपन्यास के भीतर वे स्वयं इन वीरांगनाओं के साथ जूझते नजर नहीं आते।

दरअसल जैनेन्द्र का स्त्री-विमर्श समझने के लिए उनके पुरुष पात्रों का

मनोविज्ञान जानना बेहद जरूरी है। वह पुरुष शरत् के नायकों सा रुग्ण, रक्षणीय, कातर, निरीह, परनिर्भर है—राजलक्ष्मी की सतत संभाल का आकांक्षी। वह निरभिमानी दीखता है, पर है घोर अहंवादी—आतंक और दर्प का पुंज—'पत्नी' कहानी के कालिन्दीचरण की मानिंद। उसका बाहरी आवरण आदर्शवादी है, किन्तु मन की भीतरी गहराइयों में 'परख' के सत्यधन से भिन्न नहीं—"दो टूक कहना नहीं जानता। . . . जैसे अपना निर्णय वह आप नहीं करना चाहता। चाहता है दूसरे उसके लिए निर्णय करके दे दें। मनमाना निर्णय दूसरे से पाकर वह झट उसे मान लेगा। . . . वह दूसरों की ओट चाहता है जिससे काम का सारा उत्तरदायित्व वह उन पर फेंक दे सके और खुद अपने सामने अपराधी बन कर खड़े होने से बच जाय।" (परख, पृ. ६३) पराजित एवं पलायनवादी मानसिकता से ग्रस्त ये पात्र वैचारिक स्तर पर समाज में परिवर्तन की आवश्यकता महसूस करते हैं, लेकिन क्रियान्वयन के स्तर पर असहाय एवं लाचार हैं— अपनी सीमाओं का महिमामंडन करते। दो उदाहरण द्रष्टव्य हैं। एक, 'परख' में सत्यधन का आग्रह—"जिस दुनिया की कीली को हम और तुम नहीं बदल सकते, उसको हिलाने की कोशिश करने के बजाय हम मजबूत करने में सचेष्ट हों तो ज्यादे कार्यकर हो सकते हैं" (पृ. ७८) और दूसरे, 'त्यागपत्र' में प्रमोद का आत्मसमर्पण—"पर क्या करूँ? सोचता हूँ उस समाज की नींव को कुरेदने से क्या हाथ आयेगा? नींव ढीली ही होगी और ऐसे हाथ आने वाला कुछ नहीं है। यह सोच लेता हूँ और रह जाता हूँ।" (पृ. ३४) अपनी बौद्धिक-मानसिक संरचना में ये पात्र हू-ब-हू पुरुषवादी रंजना का प्रतिरूप हैं—"सिर्फ द्रष्टा और दर्शक बने रहना उसे मंजूर नहीं है। वह जग के सारे लोगों के सुख-दुख में सम्मिलित हो रहना चाहती है पर देखती है कि वह जानती ही ज्यादा है, जीती कम है। उसे यही शिकायत थी कि साहित्य और दर्शन और धर्म के ग्रन्थ बस दृष्टि और द्रष्टा की अदा दे गये हैं, जूझने की वृत्ति नहीं। उसे चिढ़ है निपट निस्संग सी बने रहने से। लेकिन देखती है कि कहीं वह उसी मार्ग पर तो फिसली नहीं जा रही है। देखती है कि जानने वाला उसमें ऊपर आ गया है, जीने वाला नीचे सिसक सा रहा है।"

(दशार्क, पृ. ९५) एकमात्र अपवाद 'परख' का बिहारी है–बेहद ऊर्जावान, कर्मठ, गत्यात्मक, स्वप्नद्रष्टा और संवेदनशील। लेकिन अन्यत्र वह कहीं किसी रचना में झाँकता तक नहीं। उसकी मुखर-प्रत्यक्ष अनुपस्थिति चिन्तनीय भी है क्योंकि जैनेन्द्र का युग उस सरीखे भविष्यदर्शी क्रान्तिकारी नेताओं की साक्षात उपस्थिति का युग रहा है। बिहारी जैसे पात्र कल्पनाप्रसूत नहीं थे, युग की चेतना के प्रतीक थे। जाहिर है उन्हें नजरअन्दाज करना अपने युग के स्पन्दन से किनारा करना है और उस युग में प्रत्यागमन की गुपचुप बेचैन कोशिश है जहाँ के नायक की अवश कातर जड़ता यथास्थितिवाद के पोषण की मनोहारी भंगिमा है। इस स्थल पर जैनेन्द्र के पुरुष पात्रों की तुलना में स्त्री पात्रों की सक्रियता, सतत संघर्षशीलता और जुझारू वृत्ति अपने युग का विलोम रचती नजर आती है क्योंकि तब यथार्थ जगत् में पुरुष के नेतृत्व में स्त्री अपने कार्यक्षेत्र और दिशाओं का सन्धान कर रही थी। किन्तु जैनेन्द्र अपनी नारी में सकारात्मकताओं का परिपाक करने के बावजूद उसे ठोस व्यक्तित्व नहीं दे पाते। इसके लिए जिम्मेदार है उनकी पुरुषवादी मानसिकता जो यह मानती है कि पुरुष के लिए स्त्रियाँ इशारों पर चलने वाली कठपुतलियाँ मात्र हैं और उनकी सार्थकता पुरुष द्वारा तय की गयी कसौटियों पर खरा उतरने में है। चूँकि वे मानते हैं कि "जो कुछ बनाती और बिगाड़ती है, स्त्री ही। स्त्री ही व्यक्ति को बनाती है, घर को, कुटुम्ब को बनाती है, जाति और देश को भी... फिर उन्हें बिगाड़ती भी वही है। आनन्द भी वह और कलह भी... धर्म स्त्री पर टिका है, सभ्यता स्त्री पर निर्भर है और फैशन की जड़ भी वही है।" (परख, पृ. ४९) इसलिए उसे 'सिधाए' रखने के लिए कभी पैरों तले की जमीन छीन लेते हैं और कभी जीवन को एक बृहद् परीक्षा का रूप दे डालते हैं। हर अवस्था में अपेक्षा एक ही रहती है कि उसने "जो झेला है, सब पीकर 'रस' बन जाए, खार न रहे।" (त्यागपत्र, पृ. ६१) यही उनकी काम्य स्त्री है और इसी की जकड़बन्दी के लिए उनके रीढ़विहीन पुरुष पात्र विचारक जैनेन्द्र से शब्द उधार लेकर तीन कसौटियाँ बनाते हैं।

पहली कसौटी है सतीत्व की महिमा। सतीत्व माने स्त्री द्वारा अपने 'स्व-

रूप' की सम्पूर्ण स्वीकृति, यानी मातृत्व से इतर दूसरी हर चाह विकृति है, वह स्त्री का स्वरूप नहीं, विरूप है; यानी गृहिणी धर्म में ही उसकी समुचित परितृप्ति है और यही स्त्री की स्वतन्त्र साधना है।[3] सती स्त्री के आदर्श का सम्यक् दर्शन करने के लिए वे सीता का स्मरण भी करते हैं जिसने पति के हाथों अच्छा-बुरा सब कुछ समभाव से लिया और कभी पति-धर्म को क्षति नहीं पहुँचाई, कभी राम में संशय नहीं किया। तब त्रेतायुगीन सीता की आधुनिक सन्दर्भ में प्राण-प्रतिष्ठा के लिए वे मनोयोगपूर्वक 'सुनीता' उपन्यास की सुनीता की रचना करना शुरू कर देते हैं। कट्टो, मृणाल, कल्याणी के ठीक विपरीत सुनीता के सामने न चयन और निर्माण की द्वन्द्वात्मक जटिलता है, न द्वन्द्व में लहूलुहान होने की अनिवार्यता। दरअसल उसके लिए एक लीक मुकर्रर कर दी गयी है जहां उसे स्वयं कुछ नहीं करना है. "नियति के बहाव में बहते ही चलना है।" इसे द्वन्द्व का नाम देकर उसकी चारित्रिक सपाटता को कम करने का निरर्थक प्रयास करना हो तो बेशक ऐसा कर लिया जाय, लेकिन हकीकत में वह जीवित प्राणी की भासमान जीवन्तता से स्पन्दित मात्र भी नहीं है। वह है एक प्रोग्रेम्ड स्वचालित रोबो—कदम-कदम पर निर्देशों और संकेतों से परिचालित। निजता और स्वतन्त्रता जैसी अपेक्षाएँ उससे व्यर्थ हैं। इसलिए समझ नहीं आता रात के एकाकी निर्जन प्रहर में हरिप्रसन्न जैसे बाहरी पुरुष के सामने सुनीता की निर्वसन होने की क्रिया क्यों तद्‌युगीन नैतिकतावादियों को बौखला देने की क्रान्तिकारी युक्ति बनी? भीतरी पड़ताल में तो वह आदर्श भारतीय पत्नी की यान्त्रिक आज्ञा-पालना भर है— संवेदना-आकांक्षा से शून्य, स्व-पर के बोध से हीन, पाप-पुण्य से ऊपर। सुनीता स्थितप्रज्ञ सी है, लेकिन यह अवस्था उसने अर्जित नहीं की, उस पर आरोपित की गयी है-पति के उद्‌बोधनात्मक उपदेश पर कि "तुम्हारे लिए काम्य कर्म कोई नहीं है। इसी भाँति निषिद्ध कर्म भी कोई नहीं रहेगा.... अपने हृदय को अनासक्त कर पाना ही तो इष्ट है। इसके लिए निस्सन्देह बड़ी साधना की आवश्यकता है। फिर भी तुम सह कर सकती हो।... इन कुछ दिनों अपने को सम्पूर्ण रूप से बिसार देने को मैं तुम्हें कहता हूँ।... तुम उसकी (हरिप्रसन्न) इस

वैरागी वृत्ति को किसी तरह कम कर सको, उसमें कहीं बँध कर बैठने की चाह उपजा सको तो शुभ हो।" (पृ. १२३) चूँकि पूरा परिवेश श्रीकांतमय है– उसकी प्रीति, अभयदान और आदेश से परिवेष्टित है–अतः कैसा भय और कैसा लाज-संकोच? वास्तव में सुनीता का समर्पण हरिप्रसन्न यानी किसी तीसरे व्यक्ति को नहीं, पति की इच्छा को है जिसे अपना धर्म बना डालने की लोचशीलता–सतीत्व–उसने श्रद्धा को शक्ति बना कर पायी है। बेशक यह कहना व्यर्थ है कि लोचशीलता और समर्पण की माँग सिर्फ स्त्री से है–स्त्री और पुरुष के संग सम्बन्ध, समाज एवं सृष्टि का निर्माण करने वाली पितृसत्तात्मक व्यवस्था की महती अपेक्षा जो देवी–सदृश आराधना का भ्रम देकर स्त्री को सदैव हाशिए पर रखती आयी है। जैनेन्द्र का स्त्री-विमर्श सती की प्रतिष्ठा करते हुए इसी व्यवस्था के परकोटे मजबूत करता है।

लेकिन फिर भी इतनी परिसीमित अपेक्षाएँ नहीं हैं जैनेन्द्र की अपनी नारी से। गाँधी जी के आह्वान पर घर की चारदीवारी से बाहर भी वे उसकी भागीदारी देखना चाहते हैं, किन्तु इस सवाल पर ठिठक कर खड़े हो जाते हैं कि गृहस्थी या राष्ट्र। न, सती स्त्री को घर के दायित्वों से पूर्णतः मुक्त कर राष्ट्रीय संग्राम में नहीं झोंका जा सकता। वह अपनी मांसल उपस्थिति के साथ स्वतन्त्रतासेनानियों के उत्साह, बल, स्फूर्ति में वृद्धि कर उनकी प्रेरणा बने[४] – इतना तो लेखक को स्वीकार्य है और उसी झोंक में वे पुरुषअनुगता स्त्री को पुचकार और दुत्कार की दोहरी थपकी से थपथपा भी देते हैं कि "मौत से जूझने की हौंस पुरुष तुमसे, स्त्री से लेगा और तुमको देनी ही होगी... तुम यदि पुरुष की अधीश्वरी नहीं हो सकतीं तो पुरुष लाचार होगा कि तुमको अपनी दासी बनाये, दासी भी नहीं, पैर की जूती बनाये, लेकिन तुम उसकी अधीश्वरी बनने के अधिकार से भागने वाली ही हो कौन?" (पृ.१३८) लेकिन जब हरिप्रसन्न खुले आक्रामक भाव से सुचेता को घर और व्याह की मर्यादा के पार राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन की गतिविधियों से जोड़ने की बात करने लगता है–"ब्याह को तुम क्या चीज मानती हो? उससे आगे होकर क्या कोई कर्त्तव्य नहीं है?" (पृ. १२१)– तो जैनेन्द्र अपने ही रचे पात्र से

जूझने के लिए ढाल की तरह सुनीता को आगे ठेल देते हैं जिसके लिए सतीत्व ही इहलोक है, वही स्वर्ग और मोक्ष का निमित्त भी। "मैं इस घर से टूट कर जाऊँगी तो जीऊँगी नहीं।... राष्ट्र को मैं क्या जानूँ? पर पति को मैं जानती हूँ। ... उनके साथ मेरा विवाह हुआ है . . . वह मिटेगा नहीं, छूटेगा नहीं, टूटेगा नहीं। क्या धर्म इसलिए है कि टूटे?... तुम राष्ट्र के लिए मेरा स्वत्वदान माँगते हो . . . लेकिन मैं अपना स्वत्व पति की सेवा में अर्पण कर दूँ तो क्या अन्तर है? . . . मेरे लिए सारा राष्ट्र, सारा समाज, सारा श्रेय किसी व्यक्ति में समा जाना चाहिए, वह तो मुझे प्राप्त मेरे स्वामी हैं, उनके चरण जहाँ-जहाँ धूलि पर पड़ते हैं, उस धूलि के कणों में मैं अपने को खो दूँगी। तब मेरे पास स्वत्व शेष ही कब रहेगा जो तुम्हारे राष्ट्र को दूँ?.... मैं अपने घर में क्यों अतृप्त होऊँ? क्यों न यही मेरी सम्पूर्णता हो? .. मेरा धर्म सरल है, तब भी मेरा है। सरल होकर भी वही मेरे लिए कठिन है।" (पृ. १३०) द्वन्द्वहीन ठोस निर्णय! इस निर्णय के मूल में लेखक की दो मान्यताएँ परिलक्षित की जा सकती हैं। एक स्त्री पुरुष में से अपना फल–सन्तान–लेती है जबकि पुरुष स्त्री में मात्र अपना मरण खोजता है, लेकिन बार-बार की असफल खोज के बाद पाता है कि पूर्ण मरण वहाँ नहीं है। वह तो व्यक्ताव्यक्त के उस अधिष्ठाता में है जो हर कहीं समाया हुआ है। (प्रेम और विवाह, पृ. १८४) अतः उस अज्ञात पुकार के प्रति पुरुष के दुर्निवार आकर्षण को जान कर स्त्री उसे हर संभव सहायता पहुँचाए। दूसरी मान्यता स्त्री के दायित्व विभाजन को लेकर है। वे परम्परा से पुरुषों के लिए आरक्षित किये गये कार्यक्षेत्रों में स्त्री की भागीदारी के रंचमात्र भी समर्थक नहीं, क्योंकि मानते हैं कि "जो कर्म किसी भीतरी प्रेरणा से नहीं, बाह्य आकांक्षा से प्रेरित है, वह कदाचित ही हितकर होता है।" (नारी, पृ. ११) चूँकि स्त्री कोमल गुणों का पुंजीभूत रूप है, अतः उन्हीं गुणों द्वारा वह समाज को अपना सर्वोत्तम दान दे सकेगी; व्यवस्था-संगठन, आन्दोलन, चुनावी लड़ाइयाँ, कौंसिल–असेम्बली में नेतृत्व, जेल-पुलिस-अदालत जैसे कार्यक्षेत्र उसके उपयुक्त नहीं जिनमें "उत्सर्ग से अधिक आग्रह और विग्रह की वृत्ति जरूरी होती है।" (नारी, पृ. १२) यानी पति की

सहयोगी–सहचारिणी भूमिका के अतिरिक्त जैनेन्द्र स्त्री की किसी भी कर्त्तव्यनिष्ठा का अनुमोदन नहीं करते। 'मुक्तिबोध' में तो डंके की चोट पर नीलिमा के जरिए वे अपनी अप्रसन्नता भी व्यक्त कर डालते हैं–"अभागिनी है वह जो स्त्री है और राजनीति में आती है या उसका विचार भी करती है। स्त्रीत्व के साथ ऐसे समझौता ही होता है, पालन नहीं होता। ...राजनीति करे वह स्त्री जिस स्त्री के पास पुरुष न हो।" इसलिए अस्वाभाविक नहीं कि 'सुखदा' उपन्यास की सुखदा पति की आज्ञा का उल्लंघन कर क्रान्तिकारी दल से जा जुड़ने के अपराध में जीवन के अन्तिम मोड़ पर अकेली निर्जन वियोग में असाध्य रोग की पीड़ा झेलती हुए अपने दुष्कर्मों का प्रायश्चित कर रही है। उपन्यास कान्त-सुखदा के रूप में परस्पर विलोम युगल की परिकल्पना करता है। पति सरल, निष्कपट, निरीह, उदार और क्षमाशील है और पत्नी स्वतन्त्रचेता विद्रोहिणी जिसके लिए निश्चित दायित्वों से अधिक महत्त्वपूर्ण है मानसिक संतोष की परिपूर्ति। लेकिन उपन्यास की बारीक पड़ताल इन निष्कर्षों को मानो उलटा देती है। पति की निस्संगता में पत्नी के हर कदम को गुपचुप अनुशासित करने की शाइस्तगी है जो फरार क्रान्तिकारी युवक को पुलिस की नजर से बचाने के लिए घर में नौकर रखने (और उस कारण सुखदा के क्रान्तिकारियों के प्रति संवेदनशील होने) से लेकर सुखदा को क्रान्तिकारी नेता हरीश (जो वस्तुतः कान्त का अभिन्न मित्र है) से मिलने की स्वतन्त्रता देने और लाला का विरोध करने में देखी जा सकती है क्योंकि हरीश को आशंका है कि सुखदा भी कहीं अपने प्रति लाल के अन्तस्थ प्रेम को भाँप प्रणय-निवेदन न कर बैठे। सुखदा-लाल औपचारिक सम्बन्ध जब अन्ततः निर्मूल सन्देह का शिकार हो दानों के दारुण अन्त का कारण बन बैठते हैं, तब सुखदा जीवन्त व्यक्ति और स्त्री–हीन प्राणी–न रह कर एक प्रयोगधर्मी इकाई मात्र बन जाती है जिसका हवाला दे कर लेखक स्त्री की मर्यादा और सतीत्व की गरिमा की रक्षा के लिए सुखदा-सी कर्त्तव्य-च्युत स्त्रियों का उद्‌बोधन कर सके। कहना न होगा कि 'सुखदा' गांधीजी के प्रति लेखक की विनम्र तार्किक असहमति का नियोजन भर है।

आदर्श नारी के लिए जैनेन्द्र की तीसरी कसौटी उनकी इस मान्यता में निहित है कि स्त्री "ईश्वर से अपनी सन्धि स्थापित करे" यानी वह स्वीकार करे कि यदि वह स्त्री बनी है तो सतीत्व से बाहर न अपनी सार्थकता देखे और न ही पुरुष के पौरुष की स्पर्धा में पड़े बल्कि उसे उसी रूप में अपने में धारण कर कृतार्थता अनुभव करे। उसे मान लेना चाहिए कि कैरियरिज्म में पुरुष की होड़ है और सतीत्व में पुरुष से योग-सहयोग; अतः "गृहिणी धर्म में ही समुचित परितृप्ति" पाने के विवेक के साथ उसे सुनिश्चित कर लेना चाहिए कि "आर्थिक जैसी किसी स्वतन्त्रता में से वह अपने को सार्थक नहीं पा सकती।" इस मान्यता के आलोक में एकाएक कल्याणी की पीड़ा और आत्मदमन की मजबूरी के सारे आयाम स्पष्ट होने लगते हैं कि क्यों पातिव्रत्य या डॉक्टरी जैनेन्द्र के निमित्त प्रतिस्पर्धी युग्म हैं, नारी की दो पूरक भूमिकाएँ नहीं? कि क्यों कल्याणी के प्रति एक साथ कोमल और कठोर डॉ. असरानी उसके सहारे ऊपर भी उठना चाहते हैं और उसे सार्वजनिक रूप से प्रताड़ित कर अपनी श्रेष्ठता भी बनाये रखना चाहते हैं? कि क्यों आग्रहपूर्वक कल्याणी को अपने व्यक्तित्व से बिल्कुल बेमेल दो मान्यताओं पर बल देना पड़ा कि स्त्री स्वातन्त्र्य और कुछ नहीं, मातृत्व से बचने का उपक्रम है और पत्नीत्व दासता नहीं, साधना है। इसलिए जो स्त्रियाँ सीधे सुख चाह कर विसर्जन के अधिकार से वंचित होती हैं, सुख उनके लिए अनधिकृत है; और कि पति अपने आप में देवता नहीं, सतीत्व की महिमा के प्रकाश में देवता है।

दरअसल स्त्री के आर्थिक स्वावलम्बन जैसी अवधारणा को जैनेन्द्र पश्चिमी सभ्यता का दुष्परिणाम मानते हैं। वे कहते हैं कि जब "खुली आर्थिक स्पर्धा में स्त्री को उतरना पड़ता है तो इसमें सदा के लिए उसकी हीनता प्रतिष्ठित हो जाती है। फिर उनका दाम लगता है और मानो वह नीलाम पर चढ़ आती है। (नारी, पृ. ४७) इसके ठीक विपरीत है भारत की 'नैतिक सभ्यता' जो अर्थ (पूँजी) को महिमा न देने के कारण पति की सहयोगिनी स्त्री को 'घर की रानी' की मर्यादा देती है।[५] तब महत्त्वपूर्ण धन का कमाना नहीं, उसका व्यय करना हो जाता है और चूँकि घर-

गृहस्थी के काम में बुद्धि न चलने के कारण पुरुष के लिए व्यय करने का 'सिरदर्द' भारी पड़ जाता है, अतः स्त्री को सहज ही प्रधानता मिल जाती है। यही है लेखक द्वारा वन्दनीय भारत की नैतिक सभ्यता–पश्चिम की आर्थिक सभ्यता का विलोम- जहाँ 'आमद के हिसाब से ऊँच-नीच नहीं नापी जाती, खर्च की विधि के लिहाज से नापी जाती है' और जो भारतीय स्त्री को परिवार एवं समाज में शीर्षस्थ स्थान-मान दिलाने की कारक रही है। इसलिए उन्हें यह रेखांकित करने में जरा भी संकोच नहीं होता कि जब स्त्री "जरा सा पढ़-लिख कर झटपट नौकरी में दौड़" जाती है और "प्राप्त हुए वेतन के रुपए से अपनी स्वाधीन स्थिति बना कर गर्वशाली" बनने की मिथ्या कोशिश करती है, तब "इस पद्धति से वह कभी अपनी हीनता से छूट नहीं सकती... ये पुरुष के साथ स्पर्धा और संघर्ष में आने के मार्ग हैं। जीवन का नियम स्पर्धा नहीं, सामंजस्य है, संघर्ष नहीं, सहयोग है।" (नारी, पृ. ६५) अतः वे अपनी ओर से समाधान प्रस्तुत करने की उदारता दिखाते हैं कि "अगर कभी भी उस हीनता से उसे उबरना है तो इसके सिवाय कोई उपाय नहीं है कि वह स्नेह और सेवा के बल पर अपना स्थान प्राप्त करे, तथाकथित आर्थिक स्वतन्त्रता के बल पर नहीं।" यही नहीं, आर्थिक स्वतन्त्रता को छलावा मानते हुए पता नहीं किस तर्क के आधार पर वे बड़ी अजीब सी बात भी कह जाते हैं कि जब स्त्रियाँ (विधवा एवं परित्यक्ता होने की मजबूरी के बिना) सीधे पैसे को सामने रख कर अपना श्रम बेचने चलती हैं, तब अनिवार्यतः "श्रम की जगह वे अपना तन बेचने लगेंगी।" (पृ. ६६) इस मान्यता को जानने के बाद आश्चर्य नहीं होता कि क्यों कल्याणी एकाएक तपोवन हेतु जमीन खरीदने के लिए धनिक रसिक मित्रों को लुभा कर पैसा बटोरने की बात करने लगती है और क्यों एम. ए. एल. एल. बी. सरस्वती (दशार्क) पति से सम्बन्धविच्छेद करने के बाद जीविकोपार्जन हेतु वकालत नहीं करती, पुरुषों के रंजन हेतु तन की दुकान खोल कर बैठ जाती है।

जैनेन्द्र की समस्या है कि लेखन के परवर्ती दौर में उनका विचारक पक्ष उग्रतर होता गया है जिस कारण सर्जनात्मकता निरन्तर छीजती गयी है। सृजन का

अर्थ सत्य में कल्पना का खोट मिला कर नयी निर्मिति बनाना नहीं है। युगीन संकीर्णता को भविष्योन्मुखी उन्मुक्तताओं की ओर अग्रसरित करना है; वर्जनाओं को उनके खोल से मुक्त कर मनुष्यता की गौरवशाली उदारता से सम्पृक्त करना है जहाँ जिजीविषा के अनन्त दबाव तले हर पल अपने को दूर-दूर तक छितरा देने की व्यग्रता जो हर दौर में कस्तूरी की तरह महकते रहें। बेशक सृजन वैचारिक संश्लिष्टता का रागात्मक रूप है, लेकिन तभी जब मुक्तिकामी हो अन्यथा वह अपने ही पैरों में बेड़ियाँ कसने का उपक्रम बन कर रह जाता है। नारसिस की तरह आत्मछवि निहारने में तन्मय जैनेन्द्र मुक्ति के विकल्प पर विचार करने का अवकाश ही नहीं पाते। प्रेम, विवाह और सैक्स, पत्नी और प्रेयसी, स्त्री और पुरुष को लेकर वे जिस परिमाण में यथास्थितिवादी और बुर्जुवा होते चलते हैं, उसी परिमाण में शब्दाडम्बर के सहारे दार्शनिक घटाटोप रच कर अपने चिन्तन को उदात्त स्वरूप देने को छटपटाते दीखते हैं। मसलन "पुरुष की सार्थकता कभी स्त्री में नहीं है। . . . (जबकि) स्त्री अपनी सार्थकता पुरुष में और पुरुष के द्वारा देखने को बाध्य है। पुत्र के लिए उसे पति चाहिए। पुत्र के बिना स्त्री वंध्या है . . . पुरुष को पुत्र अपने लिए नहीं, केवल अपनी सम्पत्ति एवं वंश के लिए चाहिए। वह उस अर्थ में और उस रूप में पुत्र पर निर्भर नहीं है।" (नारी, पृ. ७२) "प्रेम जो स्त्री का सर्वस्व है, पुरुष के लिए उतना ही संग्रहणीय नहीं है।" (पृ. ७३) तथा "प्रेमिका के लिए प्रेम इसलिए होता है कि वह पत्नी जो नहीं है। यानी मन प्राप्त के प्रति आकर्षण अनुभव नहीं करता, अप्राप्य पर जाता है। बिल्कुल आवश्यक नहीं है कि प्रेयसी पत्नी से अधिक सुन्दरी हो। आवश्यक यह है कि उधार दुष्प्राप्यता का बोध हो।" (प्रेम और विवाह, पृ. ४६)।

कहना न होगा कि स्त्री को लेकर जैनेन्द्र जिस धरातल पर खड़े हैं वह विषमतामूलक पितृसत्तात्मक व्यवस्था का प्रबल हिमायती है। अतः सैक्स एवं जेंडर के मूल अर्थ को अलगाना और जेंडर अर्थात् रूढ़ स्त्रीछवि को सामाजिक संरचना (सोशल कंस्ट्रक्ट) न मान कर नैसर्गिक मानना उनके चिन्तन के अनिवार्य फलार्थ

बन जाते हैं। इसलिए जब वे अपने स्त्री पात्रों के जरिए कहते हैं कि "स्त्री को राह देना उसे न समझना है। गति वह उतनी नहीं चाहती जितनी स्वीकृति चाहती है। स्वीकृति में दूसरों का अपने पर स्वत्व, शायद स्वामित्व भी चाहती है।" (सुखदा, पृ. ८३) या "स्त्री कोमल है। जानते हो क्यों? इसलिए कि बल चाहती है। बल का प्रयोग चाहती है उसके बिना वह अशान्त है... सब खतरे को शान्त करने का उपाय है और स्त्री के लिए है वह पुरुष।" (जयवर्धन) दरअसल तब स्त्री विद्वेषी टिप्पणियाँ नहीं करते, अपनी वैचारिक-मानसिक संकीर्णता का उद्‌घाटन ही करते हैं जो सबसे पहले सीमा बन कर उनकी सर्जनात्मकता को ग्रसती है और फिर उनकी प्रासंगिकता को। जैनेन्द्र का स्त्री–विमर्श स्त्री की स्थिति का निस्संग विश्लेषण और उसकी मानवीय इयत्ता का अनुमोदन करने नहीं आता, पुरुष के प्रति स्त्री की ऐकान्तिक निष्ठा को विज्ञापित करने का माध्यम बनता है। फलतः उनकी स्त्री से एक और अपेक्षा भी है–प्रेमदान, अकुंठभाव से सर्वस्व समर्पण! सीता के साथ-साथ राधा की प्रतिष्ठा! इसे बीज रूप में उन्होंने 'सुनीता' में मीरा की कृष्णासक्ति बनाम सुनीता-श्रीकान्त-प्रतिक्रिया में व्यक्त किया है तो 'मुक्तिबोध' उपन्यास तक आते-आते मीरा के आराध्य कृष्ण में पर्यवसित होकर सहाय–नीला युग्म की रचना करने में। तब वे पत्नी के रूप में राजश्री की परिकल्पना करते हैं जो एक ओर पर-स्त्री के दुर्निवार आकर्षण में बँधे 'असहाय शिशु से बने' पति पर निछावर होने की भारतीयता से विभूषित है तो दूसरी ओर पति की प्रेयसी की अभ्यर्थना कर पति के मानसिक स्वास्थ्य और नैतिक उत्कर्ष हेतु उसे अपरिहार्य समझती है–"आदमी में देवता होता है और पत्नी नहीं, प्रेयसी उसे जगाती है। तुम अपने देवत्व से लड़ते क्यों हो? तुमको तृप्त और प्रसन्न आते देखूँ तो क्या इसमें मुझे प्रसन्नता न होगी?" (मुक्तिबोध, पृ. ५९) साथ ही नीला के रूप में वह एक अनुरक्ता आराधिका का मिथ भी रचते हैं जिसका निर्द्वन्द्व, निर्भीक, निष्पाप समर्पण 'सामाजिक सद्व्यवहार' पर प्रश्नचिन्ह लगा उसे ऐसी महीयसी बना डालता है जो 'चाहिए' के दबाव में जीने की यान्त्रिकता का विरोध कर 'जो है' को सहज भाव से स्वीकारने का गुरुमन्त्र देने लगती है।

जैनेन्द्र मानते हैं कि जहाँ स्त्री माँ बन कर परिपूर्ण हो जाती है, वहीं पुरुष 'फालतूपने के लिए बचा रह जाता है'। (दशार्क, पृ. ४०) 'यह फालतूपना' है कुछ ऐसा करने का आनन्द जिसमें कर्त्तव्य न हो बल्कि निषेध का रस हो। निषेध का रस मिलता है स्त्री-देह से लेकिन यह भी तय है कि असीम रस का परिपाक करने वाली स्त्री-देह पत्नी बनते ही आकर्षण खो देती है। इसलिए स्त्री को चाहिए कि जो शक्ति उसे परमेश्वर की ओर से मिली है, उसे वृथा न जाने दे, बल्कि उसका लाभ उठाते हुए वह पुरुष के 'रंजन' हेतु रंजना बन जाय। यही है 'दशार्क' की केन्द्रीय संवेदना जो 'सुनीता' और 'मुक्तिबोध' के रास्ते मीरा-राधा की प्रेम-महिमा को तमाम लौकिक अर्थव्यंजनाओं में अनूदित कर 'दशार्क' में एक प्रयोग के रूप में अभिव्यक्त हुई है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि जैनेन्द्र की सामन्ती मानसिकता उत्तरोत्तर उनके स्त्री पात्रों से निजता और अस्मिता छीनती चलती है। "औरत पैदा नहीं होती, बनायी जाती है" जैसी आत्मपड़ताली मान्यताएँ उनके निकट निरी निरर्थक हैं क्योंकि औरत को औरत बनाये रख कर ही मर्द के सामन्ती तन्त्र को जिलाये रखना संभव है। इसलिए अकारण नहीं कि प्रारम्भिक उपन्यासों में आगे बढ़ने की सतत छटपटाहट के बीच भी उनकी स्त्री आत्मप्रताड़ना एवं आत्मधिक्कारमूलक गालियों का भँवर रच कर अपने को अ-मानवी समझी जाने की 'चेतना' से आक्रान्त है और परवर्ती उपन्यासों में कोई ठोस सवाल उठाने के बजाय बेहद तत्परतापूर्वक पुरुष की परिचारिका, सलाहकार, मैनेजर, केयरटेकर बन जाती है या मर्दवादी रंजना। विवर्त, व्यतीत, मुक्तिबोध और दशार्क उपन्यास क्या इसके साक्षी नहीं? स्त्रीत्व की प्रतिष्ठा और मर्दवादी स्त्री की स्त्री-सशक्तीकरण के उदाहरण रूप में प्रस्तुति–यही है जैनेन्द्र के स्त्री–विमर्श का सार-तत्त्व–मूलतः प्रतिगामी, यथास्थितिवादी और स्त्रीविरोधी।

सन्दर्भ

१. "समाज की जिस मान्यता पर मैं ऊँचा उठा हुआ खड़ा हूँ वह स्वयं किसके बलिदान पर खड़ी है, इस बात को जितना ही समझ कर देखता हूँ उतना ही मन तिरस्कार और ग्लानि से घिर जाता है"। त्यागपत्र, पृ. ३४

२. "सागर तीनों ओर कैसे उल्लास से लहरा रहा है। पर वह लहराता रहे—हमें अपने धन्धे हैं, उधर करने को हमारी आँख खाली नहीं है।" त्यागपत्र, पृ. ६५.

३. नारी, पृ. १००

४. "पौरुष कहाँ से साहस लेता है? युवकों में कहाँ से स्फूर्ति भरनी होगी? वे कहाँ से मदद पायेंगे? जीवन की स्पृहा उनमें कैसे जगेगी? उसके लिए एक नारी की आवश्यकता है।..... कर्त्तव्य से नहीं आयेगा उल्लास, उल्लास जागेगा माया के आकर्षण में से। माया भोग्या नहीं है, माया मरीचिका है। वह मायामयी नारी घर में ही क्यों? वह बृहत् क्षेत्र में क्यों नहीं?" त्यागपत्र, पृ. १२०-१२२।

५. "पश्चिम की अर्थकेन्द्रित सभ्यता को स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध की दृष्टि से कोई साम्य की सभ्यता कहे तो मेरे लेखे उससे बड़ा भ्रम दूसरा कोई न होगा। आज तो मैं मानता हूँ कि उस तरह की 'बराबरी' की महिमा और माँग बढ़ती जा रही है। इसमें स्त्री को अवश्य नीचा देखना होगा। लेकिन अर्थ में कोई खास महिमा न रहने दी जाय तब क्या आदमी तो अर्थ लाने वाला मजदूर और स्त्री उसके व्यय पर आधिपत्य रखने वाली रानी ही बनी नहीं देखी जा सकती?" नारी, पृ. ६४।

महादेवी का चिन्तनात्मक गद्य

—मुक्तेश्वर नाथ तिवारी

महादेवी वर्मा के आलोचनात्मक निबन्धों के विषय साहित्य और संस्कृति के सनातन और ललित प्रश्नों से सम्बद्ध हैं। उन्होंने सर्वांगीण आलोचना को लक्षित कर कोई पुस्तक नहीं लिखी है, न अपने समय में प्रकाशित किसी पुस्तक को केन्द्र में रखकर पुस्तक-समीक्षा ही लिखी है। उनका तो बस 'विवेचनात्मक गद्य' मिलता है जहाँ साहित्य की ज्वलन्त और प्रासंगिक प्रश्नाकुलता को अपनी मौलिक सूझ-बूझ के साथ विवेच्य बनाया गया है। आलोचक जब आलोचना की कोई पुस्तक लिखता है तब वह किसी साहित्यकार या युग विशेष की प्रवृत्तियों को दृष्टिपथ में रखकर किसी एक कोण से दोनों में से किसी एक को महत्तर फैलाव देता है। महादेवी वर्मा का आलोचक से अधिक मोहक व्यक्तित्व चिन्तक का है, जो अधिक पहचान में आता है। जिस प्रकार साहित्य सम्बन्धी अनेकों मौलिक लेखों के कारण प्रेमचन्द चिन्तक की कोटि में सहज परिगणित किये जा सकते हैं, ठीक वैसी ही बात महादेवी के सम्बन्ध में भी सच है। आलोचक अपनी आलोचना में अपने अध्ययन एवं अधिगृहीत ज्ञान की पृष्ठभूमि का प्रदर्शन करता चलता है जबकि चिन्तक अपने विचारों का मौलिक प्रस्तोता होता है। महादेवी की कुछ पुस्तकों के नाम भावनात्मक या ललित-तत्त्व का उद्‌घाटन करते हैं, जैसे 'क्षणदा' (१९५६ ई .) और 'संकल्पिता'। विचारों को ही आयत्त करके 'शृंखला की कड़ियाँ' स्त्री-बोध की प्रतिनिधि पुस्तक है। अपने सुदीर्घ रचनात्मक जीवन में उन्होंने साहित्य और संस्कृति के प्रयोजनात्मक पक्षों को अपनी विचारणा और भावना का विषय बनाकर चिन्तन ही किया है, दो-चार निबन्धों को छोड़कर आलोचक की तरह ससन्दर्भ जिरह नहीं की है। उनके आलोचनात्मक निबन्धों को सही नाम देकर संज्ञित करना हो तो उन्हें चिन्तन प्रधान निबन्ध कह सकते हैं। उनके आलोचनात्मक निबन्ध आत्माभिव्यंजना के उत्कृष्ट नमूने हैं, उनमें कल्पना की प्रचुरता, भावों की स्वच्छन्दता, विषय और उसके स्थापन

की नवीनता के दर्शन होते हैं। प्रेमचन्द के मुहावरों, यथा 'स्वतन्त्र चिन्तन का भाव' और 'सौन्दर्य का सार' को महादेवी के निबन्धों में आद्यन्त परखा जा सकता है। इन सबके बावजूद महादेवी के निबन्ध 'ललित निबन्ध' उस अर्थ में नहीं हैं जिस अर्थ में हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबन्ध हुआ करते थे। 'संकल्पिता' की प्रकाशकीय विज्ञप्ति में संकलित सभी निबन्धों को 'ललित निबन्ध' कह डाला गया है जिसमें चयनित कुछ निबन्धों के नाम हैं 'भारतीय वाड्.मयः एक दृष्टि', 'संस्कृति और प्राकृतिक परिवेश', 'साहित्यकारः व्यक्तित्व और अभिव्यक्ति'। 'ललित निबन्ध' की कोष्ठबद्धता संभवतः सौन्दर्यात्मक रुझान की अभिव्यक्ति के लिए सटीक मानी जा सकती है, तथाकथित ललित निबन्ध या भावात्मक निबन्ध के बोध-विस्तार के लिए नहीं। यह भी विचारणीय है कि महादेवी के आलोचनात्मक निबन्ध किसी आलोचक के टेबुल से नहीं, बल्कि चिन्तक के टेबुल से होकर गुजरे हैं, इसलिए उनके निबन्धों को ठीक-ठीक सैद्धान्तिक निबन्ध भी नहीं कह सकते। यह बात अवश्य स्वीकरणीय है कि इन निबन्धों में उनकी ही चिन्तना से उपजे सिद्धान्त आ गये हैं। रामस्वरूप चतुर्वेदी (हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास) महादेवी के निबन्धों में सिद्धान्त निरूपण लक्षित करते हैं, लेकिन डॉ. वेंकट शर्मा सैद्धान्तिक पृष्ठाधार पर सहमत नहीं हैं। डॉ. शर्मा की टिप्पणी उद्धृत की जाती है, "यद्यपि उन्होंने शास्त्रीय और पूर्वार्जित सैद्धान्तिक पक्ष को लेकर समालोचनाएँ नहीं लिखी हैं, फिर भी उनकी जीवन-अनुभूति और करुण-संवेदना चिन्तन के क्षणों में काव्य के अन्तरंग पक्ष का ऐसा तथ्यपरक विश्लेषण कर सकी हैं, जो उनकी विचारधारा को स्पष्ट करने के साथ-साथ परोक्ष विधि में उनके काव्य-सृजन की मूल प्रेरणाओं को ही हृदयस्थ बनाने में सहयोग प्रदान करती है"।[१] महादेवी की एक मौलिक सूझ-बूझवाली विचारधारा है जो काव्य-पक्ष या हृदय-पक्ष की सहवर्ती है। दूसरे शब्दों में महादेवी के लक्ष्य विचार हैं और भाव हैं पूरक। ठीक जिस प्रकार रामचन्द्र शुक्ल ने 'चिन्तामणि' के निबन्धों के लिए यह कहा है कि 'यात्रा के लिए निकलती रही है बुद्धि पर हृदय को भी साथ लेकर', महादेवी भी 'क्षणदा' की भूमिका (अपनी

बात) में इसी पंक्ति के वजन पर एक विज्ञप्ति जारी करती हैं, "संगीत थम जाने पर गायक जैसे औरों के वाद्य और अपने गीत की संगति पर विचार करने लगता है, वैसे ही मेरे विचार भाव की सीमा-रेखा पर स्थित हैं"। विज्ञप्ति की इतनी-सी समानता का मूल कारण तो हिन्दी प्रदेशीय बौद्धिक नवजागरण जान पड़ता है, लेकिन फिर भी रामचन्द्र शुक्ल जिन अर्थों में सैद्धान्तिक निरूपण में प्रवीण हैं, महादेवी उन अर्थों में नहीं। 'चिन्तामणि-भाग-१' में संकलित आचार्य शुक्ल के निबन्धों और महादेवी के सभी आलोचनात्मक निबन्धों में विचार और भाव के उपयोग में मात्रात्मक अन्तर है। आचार्य शुक्ल का विचार परिविस्तृत और भाव संकुचित है जबकि महादेवी का विचार-पक्ष संकुचित और भाव-पक्ष ही परिविस्तृत है। कारण यह है कि आचार्य शुक्ल की तुलना में महादेवी की काव्यात्मा बड़ी है। विचार की अपेक्षा भावों के प्रति विशेष झुकाव का कारण महादेवी के अनुसार भावों का संक्रामक होना है। महादेवी के बारे में यह कहना समीचीन है कि अनेकविध उदाहृत भावों की भित्ति पर ही उनके विचार उनके चिन्तन-पक्ष का निर्धारण करते हैं। 'क्षणदा' की भूमिका की पहली पंक्ति है, "क्षणदा में मेरे चिन्तन के क्षण एकत्र हैं"। महादेवी उक्त पुस्तक में चिन्तन का विकल्प 'विचार' और भाव का विकल्प 'अनुभूति' की प्रस्तावना रखती हुई लिखती हैं, "हमारे विचार और अनुभूति के क्षण, समय की अखण्डता का निर्माण कर लेते हैं। . . . जिसे मनुष्य के चिन्तन और अनुभूति की अविच्छिन्नता ने अनन्तता दी है, कोई क्षण न चिह्न रहित है और न अकेला" (वही)। उसी भूमिका में आगे पुनः विचार और अनुभूति शब्द आये हैं, "एक मनुष्य के विचार और अनुभूतियाँ भी अनेक मनुष्यों के विचार तथा अनुभूतियों से आकर्षित-विकर्षित होने के कारण संश्लिष्ट और अनन्त हैं"। इसमें कहाँ दो मत हैं कि समस्त कला-रूपों और साहित्यिक अभिव्यक्तियों में विचार और अनुभूतियों का युगपत् सम्मिश्रण देखा जाता है, इसलिए महादेवी के गद्य-साहित्य में भी इसकी अवश्यंभाविता से इनकार नहीं किया जा सकता। विचारों को आगे करके जब प्रबल बनाया जाता है तब चिन्तन की सृष्टि होती है। चिन्तन

विचारोत्तेजक हो सके, इसके लिए भावों या अनुभूतियों का काव्योपयोग की तरह इस्तेमाल किया गया है। यही आचार्य शुक्ल के मतानुसार यात्रा का पाथेय है अर्थात् बुद्धि और हृदय की समन्वित उपस्थिति। बुद्धि और हृदय के समन्वित प्रयास तथा भाषा संकेतों की उपलब्धता 'गूढ़ रहस्यों' किंवा चिन्तन को आकृति देती है। ऐसा मत प्रतिपादित करती हुई महादेवी वर्मा लिखती हैं, "जीवन के गूढ़ रहस्यों को अंशतः व्यक्त करने के लिए मनुष्य ने जिन भाषा संकेतों का आविष्कार किया है वे प्रायः रूढ़ परिभाषाओं की सीमा पार कर हृदय और बुद्धि के अनेक स्तरों तक फैल जाते हैं"।[२] बुद्धि और हृदय के समन्वय को महादेवी एक बड़ा मूल्य घोषित करती हुई इसे 'सामंजस्य लाना' कहती हैं। कामायनीकार प्रसाद के बहाने उन्होंने सभी प्रथम श्रेणी के साहित्यकारों में इस सामंजस्य की प्रवृत्ति लक्षित की है, "कामायनी में बुद्धि और हृदय के समन्वय के द्वारा जीवन में सामंजस्य लाने का जो चित्र है, वह कवि का स्वभावगत संस्कार है, क्षणिक उत्तेजना नहीं। इस सामंजस्य का संकेत सब प्रतिनिधि रचनाओं में मिलेगा"[३] चिन्तन 'मनन' के अर्थ में होकर विचार से ही अपनी संपृक्ति रखता है और साधारणतः चिन्तन को जड़त्व की एकव्यापिता से बचाने के लिए जरूरी है कि उसका व्यापक हित में प्रचार-प्रसार किया जाय, "साधारणतः हमारे विचार विज्ञापक होते हैं और भाव संक्रामक; इसीसे एक की सफलता पहले माननीय होने में है और दूसरे की पहले संवेदनीय होने में"।[४]

महादेवी का समग्र गद्य-साहित्य चिन्तन से भाराक्रान्त है। जीवन, संस्कृति और साहित्य उनके चिन्तन के त्रिक् हैं और माध्यम है निबन्ध। बड़ा से बड़ा सत्य, बड़ा से बड़ा रहस्य इसीप्रकार सूक्ष्म से सूक्ष्म सत्य और रहस्य उनके चिन्तन की परिधि में पड़ते हैं। महादेवी के चिन्तनात्मक गद्य में रहस्योद्घाटन की रीति में जीवन, संस्कृति और साहित्य की परीक्षा की गयी है। चिन्तन के क्रम में महादेवी ने अन्वेषण, कार्य-कारण शृंखला, तर्क-पद्धति आदि की एकता कायम करके अपनी ज्ञानात्मक वृत्तियों का बड़े कौशल से संयोजन किया है। वाक्-संयम बरतकर जीवन की खोज करने के सिलसिले में उनके चिन्तनों ने जीने की राहें बतायी हैं।

गम्भीर अध्ययन और मनन ने महादेवी को चिन्तन का अधिकारी बनाया है। चिन्तन में जिस मौलिक सूझ-बूझ की आवश्यकता पड़ती है, वह पर्याप्त परिमाण में उनको अधीत है। पारम्परिक किन्तु प्रासंगिक सारे विधि-निषेध महादेवी को मान्य हैं। जीवन, अनुभूति, मनोवृत्ति इत्यादि उपकरणों को समष्टि हित में साधकर महादेवी ने अपने मन्तव्य प्रकाशित किये हैं। वे सुविचारणा से परिचालित हैं और शिवता में उनकी गहरी आस्था है। बुद्धि, विचारणा और अभ्यास उनके चिन्तन तो क्या उनके पद्य में भी अतिशयता से दृष्टिगोचर होते हैं। कमलाकान्त पाठक के शब्दों में, "वह काव्य को बुद्धि ही नहीं, अभ्यास के धरातल तक ले जाती हैं और अपनी समीक्षा को, जो शास्त्र-सम्मत नहीं, स्वतन्त्र चिन्तन है, काव्यात्मक धरातल देती चलती हैं, फलतः कविता तो गहन ही हो सकती है, पर विवेचन भावना संबलित जान पड़ता है। भावमय बुद्धि और विवेकमय हृदय सामान्य कथन के रूप में चाहे ठीक जान पड़ें, पर इनका सम्यक् निर्वाह लौकिक क्षेत्र में प्रायः कठिन ही होता है"।[५] पाठकजी के इस उद्धरण में महादेवी के चिन्तक रूप की पहचान की गयी है। उद्धरण में कुछ ध्यातव्य बातें हैं : (क) महादेवी की काव्य-समीक्षा शास्त्र-सम्मत नहीं है, (ख) महादेवी की काव्य-समीक्षा स्वतन्त्र चिन्तन की परिधि में आती है, (ग) काव्य में बुद्धि और अभ्यास को महादेवी ने वरेण्य बनाया है, (घ) उनका विवेचन भावना-संबलित है, और (ङ) जो कहीं जीवन में या काव्य में संभव न हुआ, वह महादेवी के गद्य में संभव हुआ यानी 'भावमय बुद्धि' और 'विवेकमय हृदय' की तकनीकों का मौलिक इस्तेमाल महादेवी ने अकेले किया है।

महादेवी का सर्वात्मवादी दर्शन है। वे चिरन्तनता, सनातनता, पूर्णता, व्यापकता, शाश्वतता, नैसर्गिकता आदि की प्रचारक हैं। सामाजिकता की स्वीकृति के बीच रहस्यात्मकता और अपार्थिवता से भी इनकार नहीं करतीं। उनके चिन्तन में रुचिकर और सर्वसमावेशी बातों का प्रकटीकरण हुआ है। उनके दर्शन की उदात्त भावभूमि है। उनके दर्शनाधृत चिन्तन ने सौन्दर्य-वृत्तियों को एकबारगी नये सिरे से परिभाषित कर दिया है। उनकी अखण्डतावादी और सामंजस्यविधायिनी दृष्टि है।

उन्होंने उपनिषदों को भी खँगाला है और बुद्ध के करुणावाद को भी पीठिका में रखा है। जीवन की जय का घोष महादेवी के दर्शन का स्थायी निचोड़ है, "साहित्य जीवन का अलंकार नहीं है, वह स्वयं जीवन है। साहित्यकार सृजन के क्षणों में उस जीवन में जीता है और पाठक पढ़ने के क्षणों में। इसप्रकार साहित्य में हम जीवन के अनेक गहरे अपरिचित स्तरों में, मनोवृत्तियों के अनेक अज्ञात छायालोकों में जीवित होकर अपने जीवन को विस्तार, अनुभूतियों को गहराई और चिन्तन को व्यापकता देकर उसे समष्टि से आत्मीय सम्बन्धों में जोड़ते हैं"।[६] महादेवी के इस वक्तव्य को अविरोधी होकर सभी स्वीकार करेंगे क्योंकि इसमें साहित्य सृजन और पठन के मूल प्रश्नों की ओर इंगित किया गया है। साहित्य का लक्ष्य जीवन है, मनोवृत्तियों को कुरेदना भी उसका लक्ष्य है, अनुभूतियों को गहराई देना उसका लक्ष्य होता है; साहित्य को चिन्तन की तरफ धकेलते हुए उस अभिलषित चिन्तन को व्यापक बनाना है, तदनन्तर आत्मीयता बढ़ा सकने वाली शिल्प-विधि द्वारा समाज के हितकारी आशयों को खोलना है। स्पष्ट है कि महादेवी ऐसे साहित्य की पक्षधर हैं जिसमें 'चिन्तन का सार' हो।

महादेवी को गद्य-साहित्य में हमेशा दर्शन-अभिमानिनी की तरह ऊँची बात कहते हुए लक्षित किया जा सकता है। इसी से उनका गद्य भावमय विचार की तरह आह्लादक बन गया है। ऐसा लगता है, मानो महादेवी का स्थायी कवि-स्वभाव उनके गद्य को भी आच्छन्न किये बैठा है। यह कहना उचित नहीं होगा कि अपने उत्तरवर्ती जीवन में जब कविता करनी उन्होंने स्थगित कर दी, तब कविता के अवशिष्ट भाव-बोध उनके गद्य में इस्तेमाल हो गये। महादेवी अपने स्वार्जित विचारों और भावों का रोपण सर्वानुभूतिशायी विवेक से करती हैं कि वे विचार और भाव सबको प्रीतिकर लगते हैं। सत्य पर पड़े झीने रहस्य को हटाकर वे सत्य के दर्शन कराती हैं, "प्राकृतिक परिवेश से जीव प्रकृति का सम्बन्ध केवल ऐसा नहीं है जैसा सीप के सम्पुट और मोती में होता है। मोती सीप में उसके द्रव से बनता अवश्य है, परन्तु उसके बनने का क्रम किसी विजातीय सिकता-कण से आरम्भ होता है, जो

किसी प्रकार सीप के सम्पुट के भीतर प्रवेश पा लेने पर उसकी कोमलता में चुभ-चुभकर उसे द्रवित करता रहता है"।[७] यहाँ वस्तु परिदर्शन का ज्ञान उलीचकर उन्होंने जीव और प्रकृति के सम्बन्ध का द्योतन कराया है। महादेवी यहाँ प्रकृति में विरोधी तत्त्वों की सहयोगिता पर प्रकाश डाल रही हैं। मोती, सीप और बालू-कणों की प्रतिक्रियाओं को उदाहरण बनाकर वे एक सत्य का साक्षात्कार करा देती हैं। मोती, सीप और सिकता-कणों की सचाइयाँ भी रहस्योद्‌घाटन की तरह लगती हैं। जिसप्रकार एक दार्शनिक आत्मा को समझाने में ज्ञान का सहारा लेता है, महादेवी भी अपने स्वार्जित ज्ञान का उपयोग करती हैं, जैसे मोती, सीपी और सिकता-कणों से सम्बद्ध ज्ञान हुआ। अब चूँकि उपर्युक्त उदाहरण वाला ज्ञान परोक्ष सत्ता यानी उपमान-जगत् से सम्बद्ध है, इसलिए यह काव्यात्मक औजार यानी सादृश्य-विधान बनकर पाठकों को भाव-वाहित कर लेता है। उपमानों की उपयुक्तता या सटीकता की परीक्षा उनका कवि-हृदय कर देता है। इसलिए गद्य-साहित्य में महादेवी के व्यवहृत उपमानों के बेठीक जाने का कहीं कोई प्रश्न ही नहीं है। महादेवी के कथ्य यों भी आत्मा से उद्‌गीरित होकर पृष्ठ पर उतरे हैं, इसलिए भी उनके गद्य में दर्शन-वाहित उदात्त विचारों की झड़ियाँ लग जाती हैं, जैसे, "शुक्ति से बाहर आकर मोती का महार्ध जीवन आरम्भ होता है और धरती छोड़कर वृक्ष की निश्चित मृत्यु आरम्भ होती है"।[८] एक-दो उदाहरण और द्रष्टव्य हैं– (क) "विकास की दृष्टि से महाकायता की गति लघुता की ओर और स्थूलता की सूक्ष्मता की ओर रही है" (वही), (ख) "नदियों का उद्‌गम एक हो सकता है, उनकी गतिशीलता भी निश्चित हो सकती है, परन्तु गन्तव्य और दिशा का, तटों से सीमित रहना अनिवार्य है"।[९]

एक दार्शनिक के सामने जितने बहुविध सत्य आते हैं, उन सत्यों के प्रमाणन में दस गुना अधिक उदाहरणों या उस सत्य की व्यक्त अनुक्रियाओं का वह साक्षी रहता है। महादेवी के सीमित काव्यालोचन में सीमित कथ्य की किन्तु अपेक्षा में अधिक व्यक्त अनुक्रियाओं या उदाहरणों की भरमार इसीलिए मिलती है क्योंकि वे दर्शन के बोध से चालित हैं। दार्शनिक बाह्य क्रिया-प्रतिक्रियाओं के दर्शन कर

अन्तस् की तरफ मुड़कर किसी सत्य का उद्घाटन करता है। महादेवी में किसी दार्शनिक की-सी अन्तर्मुखता भी है और कवि की तरह बाह्य निरीक्षण की विवशता भी है। यदि दार्शनिक और कवि-स्वभाव, दोनों का परीक्षण करना हो तो यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकेगा कि महादेवी का बाह्य निरीक्षण अधिक बलवत्तर है। उनके सत्यानुसन्धान और बाह्य पर्यवेक्षण का विचार करना जरूरी है। उनके गद्य का एक टुकड़ा यह है, "भाषा भी गढ़ी जाती है, परन्तु वह कुंभकार का घट-निर्माण नहीं, मिट्टी का अंकुर-निर्माण है। जिसप्रकार मनुष्य की मूलगत प्रवृत्तियों को नये लक्ष्य से जोड़कर हम उसके अप्रत्यक्ष आदर्श और प्रत्यक्ष कर्म का निर्माण कर सकते हैं, उसी प्रकार भाषा की नैसर्गिक वृत्तियों से नये भाव, नयी वस्तु, नये विचार जोड़कर हम उसे नये रूपों में समृद्ध करते रहते हैं"।[१०] प्रतीतित सत्य के लिए उदाहरणों का क्रम-विपर्यय करके देखें तो पता चलेगा कि पुनः उसी अनुमेय सत्य की पुष्टि का प्रमाण बनकर उपर्युक्त वाक्यखण्ड सजाया गया है। प्रतीतित सत्य है 'भाषा भी गढ़ी जाती है' और उदाहरण हैं मिट्टी का अंकुर-निर्माण, मनुष्य की मूलगत प्रवृत्तियों से नये लक्ष्य जुड़कर अप्रत्यक्ष आदर्श और प्रत्यक्ष कर्म का निर्माण करना। यों निषेधवाची एक उदाहरण और झलकता है, 'कुंभकार का घट-निर्माण'। महादेवी का गद्य इस विचार-परिप्रेक्ष्य में सभी गद्यकारों के गद्य से अलग है। साहित्य के पर्यवेक्षण-कार्य की बात ही उठायें तो महादेवी का खोजा हुआ सत्य यह है कि समाज और व्यक्ति का "आदान-प्रदान इतने स्थूल धरातल पर स्थित है कि उसकी उपयोगिता के विषय में किसी सन्देह का अवकाश कम रहता है"। अब इस सत्य के प्रतिष्ठापन में उन्होंने एक परिच्छेद में छः वर्गों—लौहकार, स्वर्णकार, व्यापारी, न्यायाचार्य, पुजारी और शिक्षाशास्त्री से उदाहरण दिये हैं, " भारी पैनी तलवार गढ़नेवाले लौहकार के कार्य का महत्त्व भी समाज जानता है और हल्की अंगूठी में रत्नों की बारीक जड़ाई करनेवाले स्वर्णकार की कुशलता का मूल्य भी उससे छिपा नहीं है। कष्टलभ्य वस्तुओं का क्रय-विक्रय करनेवाले व्यापारी की प्रत्यक्ष योग्यता का भी उसे ज्ञान है और मंदिर में जप करनेवाले पुजारी की अप्रत्यक्ष रचना में भी

उसका विश्वास है। न्यायासन पर दंड पुरस्कार का वितरण करनेवाले न्यायाचार्य के कार्य के विषय में उसे सन्देह नहीं है और समाज की नयी पीढ़ी को परम्परानुसार शान्त-दान्त बनाने में लगे शिक्षाशास्त्री के कार्य का भी उसके पास लेखा-जोखा है"।[११] साहित्यजीवी होने के कारण उन्हें सत्य की पुष्टि में बहिर्मुख होकर समाज और परिवेश के पर्यवेक्षण की सुविधा मिली हुई है। एक ही कोटि के छः उदाहरण उन्होंने दर्शनशास्त्री के तर्कवाद की तुला पर तौलकर दिखलाये हैं। यह बात भुला देने की नहीं है कि तार्किकता उनके चिन्तन की एक मूलभूत प्रवृत्ति है। इसी तार्किकता की परिणति तटस्थता में होती है। साहित्य यद्यपि न्यायासन नहीं है, तथापि महादेवी के साहित्य में जो परिवेश दिखता है, वह न्याय, या साहित्यिक न्याय की तुला पर तौला हुआ होता है। नैयायिक पर्यवेक्षण में तटस्थता रहती ही है, इसलिए वस्तु का बोध प्रथम दृष्टि में ही साफ-साफ और गोचर बनकर उभरता है। महादेवी के चिन्तक की यह विशिष्ट देन है।

महादेवी की आलोचना की विषयवस्तु को यदि मूल सत्य कह सकते हैं तो इसके समानान्तर लाये गये उदाहरण-संसार को आहरित सत्य कह सकते हैं। पहला यदि बोध-पक्ष है तो दूसरा हृदय-पक्ष। दोनों सत्यों का युगपत् घालमेल महादेवी का वैशिष्ट्य है। विषय-प्रवर्तन कभी मूल सत्य से होता है तो कभी आहरित सत्य से; कभी उदाहरण पहले लाया जाता है तो कभी सिद्धान्त पहले लाया जाता है; कभी आगमन, तो कभी निगमन। उनकी आलोचना में आधा बोध है और आधा प्रसादन। उन्होंने बोधि को उदाहरणों से समझाया है। बोधि और उदाहरण में महत्त्व दोनों का है। दोनों अलग-अलग अवलोकनीय नहीं हैं, यों अध्ययन के कुछ नतीजों के लिए दोनों को विलगाकर देखा जा सकता है। निष्कर्ष यह निकलेगा कि बोधि-संसार अपेक्षाकृत लघु है, जबकि उदाहरण-संसार बड़ा और प्रीतिकर। उनके बोधि-पक्ष के भीतर ही दर्शन की भित्तियाँ निर्मित होती हैं, उदाहरण-पक्ष कोरा कवि-संसार होता है। महादेवी की अपनी दृष्टि में दार्शनिक से बड़ा कवि होता है क्योंकि उसका सम्बन्ध बुद्धि के निम्न स्तर से नहीं होता, जबकि एक दार्शनिक का होता है। वे

लिखती हैं, "काव्य में बुद्धि हृदय से अनुशासित रहकर ही सक्रियता पाती है, इसी से उसका दर्शन न बौद्धिक तर्क प्रणाली है और न सूक्ष्म बिन्दु तक पहुँचानेवाली विशेष विचार-पद्धति। वह तो जीवन को, चेतना और अनुभूति के समस्त वैभव के साथ, स्वीकार करता है। अतः कवि का दर्शन, जीवन के प्रति उसकी आस्था का दूसरा नाम है"।[१२] महादेवी वैसे भी बुद्धि से बड़ी अनुभूति को मानती हैं, "बुद्धि में समानान्तर पर चलनेवाली भिन्न-भिन्न श्रेणियाँ हैं और अनुभूति में एकतारता लिये गहराई"।[१३] उदाहरण-बाहुल्य प्रकट में महादेवी के अन्तर्मुखी स्फोट का आभास दिलाता है। यह इस बात का प्रमाण भी है कि महादेवी का कवि-हृदय निश्चेष्ट नहीं हुआ है। इसीसे इन उदाहरणों में कवि-स्वप्न और 'विज़न' की कोई कमी नहीं है, वह भी अत्यन्त स्वाभाविक सम्पन्नता के साथ। महादेवी के सब गद्य-रूपों की शिलष्ट विशेषता है कि उनमें अन्तर-बाह्य सब लोक समानुपात में पूँजीभूत कराये गये हैं। रमेशचन्द्र शाह के शब्दों में, "महादेवी का गद्य अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् का रोचक संवाद प्रस्तुत करता है। अलंकृत शैली के घटाटोप को चीरती उनकी 'विट' जगह-जगह कौंधती रहती है। यह विट उनकी संवेदना को तीखा बनाये रहती है, उनकी भावुकता को उनकी समझ से अलग ज्यादा देर नहीं टिकने देती। कुछ है इस गद्य में, जो इसे प्रसाद या निराला के गद्य से अलग एक वैशिष्ट्य प्रदान करता है, वह क्या है? निश्चय ही इस गद्य की लय महादेवी के गीतों की लय से जुड़ी हुई है। वह गीतगन्धी लय ही है"।[१४] रमेशचन्द्र शाह आगे लिखते हैं, "महादेवी की भावना और महादेवी की बैद्धिकता यहाँ गद्य के माध्यम से ज्यादा एकाग्र होकर काम करती जान पड़ती हैं और आत्माभिव्यक्ति ज्यादा अनायास और ज्यादा पूर्ण है। महादेवी जब गद्य लिखने बैठती हैं तो उनके आँख-कान दोनों खुले रहते हैं और हृदय के साथ मस्तिष्क भी बराबर धड़कता रहता है"।[१५] महादेवी की गद्य-गरिमा का अनथक बयान जैसे सभी आलोचकों ने किया है, रमेशचन्द्र शाहजी ने भी किया है। शाहजी ने भी लक्षित किया है कि अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् के बड़े सामंजस्य को महादेवी के गद्य में प्रदर्शित किया गया है। बुद्धि और हृदय के इस सामंजस्य में हृदय की

जीत हुई है, तभी तो उनका गद्य 'गीतगन्धी लय' पैदा करता है। महादेवी का गद्य-लेखन अधिक सचेत क्रिया के बतौर हुआ है, तभी तो शाहजी के शब्दों में 'आँख कान दोनों खुले हैं'। महादेवी की कविता या कविता-मात्र में परिलक्षित एक विशेषता सांकेतिकता की है। यही सांकेतिकता, संयोग से महादेवी की आलोचना या चिन्तन या उनके गद्य की भी विशेषता है। इधर की आलोचना क्या, शुक्ल-युगीन आलोचना में भी वस्तु-निर्देश की साफगोई की पद्धति थी; वस्तु को उसकी वास्तविक संज्ञा में पुकारने की रीति थी या है जो अवैज्ञानिक नहीं कही जा सकती। महादेवी की किन्तु सांकेतिक रीति है अथवा नामान्तर की रीति है। यहाँ एक दो उदाहरण पर्याप्त होंगे। भक्ति-काल और रीतिकाल को नाम से न पुकारकर उन्होंने उन्हें इस एक उदाहरण में क्रमशः 'सम्प्रदाय' और 'दरबार' कहा है, "एक दीर्घकाल से कवि के लिए, सम्प्रदाय अक्षयवट और दरबार कल्पवृक्ष बनता आ रहा था"।[१६] इसी पुस्तक के अगले पृष्ठ में अंग्रेजी सरकार या कम्पनी-शासन के लिए उन्होंने 'नवीन शासक-वर्ग' पद का तथा मुस्लिम संस्कृति के लिए अत्यन्त क्षिप्र संकेत 'एक संस्कृति' से काम चला लिया है, "नवीन शासक-वर्ग विजेता के समारोह के बिना ही एक चतुर अतिथि के समान हमारो देहली पर आ बैठा और आत्मकथा के बहाने अपनी संस्कृति के प्रति हमारे मन में ऐसी परिचय भरी ममता उत्पन्न करने लगा कि उसे आँगन में न बुला लाना कठिन हो गया। एक संस्कृति जो पाँच सौ वर्षों में न कर सकी, उसे दूसरी ने डेढ़ सौ वर्षों में कितनी पूर्णता के साथ कर लिया है, इसे देखना हो तो हम अपना-अपना जीवन देख लें"।[१७] काव्योचित तर्कपद्धति, वाक्य-सन्निधि आदि के माध्यम से केवल यह पूर्वानुमान करते बनता है कि यहाँ जो बातें कही गयी हैं, वे अंग्रेज राजबहादुर और मुगल-सल्तनत से सम्बद्ध हैं। 'चतुर अतिथि' (अंग्रेज), 'हमारी देहली' (भारतभूमि), 'आँगन' (अन्तवर्ती भूगोल) आदि शब्द प्रतीकात्मक हैं अथवा लक्षक हैं। पुस्तक का उद्धरण 'छायावाद' विषयक महादेवी के प्रसिद्ध निबन्ध का है जिसमें काव्योपम लाक्षणिकता के बीच छायावाद का परिचय कराया गया है। अगले परिच्छेद में महादेवी ने अंग्रेजों को 'नवागत

विपक्षी' और मुसलमानी शासन को 'तीसरी शक्ति' कहा है, यह भी एक कूट-रीति है जिसमें काव्य-विनोद की पूरी गुंजाइश रहती है, "वह नवागत विपक्षी परिचित पर विस्मृत मित्र की भूमिका में आया। इसके अतिरिक्त अतीत के निष्फल पर निरन्तर संघर्ष से हम द्वेष-जर्जर और क्लान्त हो रहे थे कि तीसरी शक्ति की उपस्थिति हमारे लिए विराम जैसी सिद्ध हुई"।[१८] महादेवी की परोक्ष और क्षिप्र कथन-भंगी को लक्षित कर डॉ. वेंकट शर्मा ने उनकी समालोचना की शैली को 'रावीन्द्रिक शैली' से उपमित किया है, "उनके विवेचन पर रावीन्द्रिक शैली का यथेष्ट प्रभाव है, जिसमें विवेकी पाठक के लिए तन्मय होने के पर्याप्त अवसर हैं"।[१९]

महादेवी की आलोचना 'जीवन के लिए' होने के कारण उसका सोद्देश्य प्रयोजन और उपयोग झलकता है। उनकी आलोचना शैक्षिक अभिक्रिया करती है और सुधारवाद को पसन्द करती है। 'शृंखला की कड़ियाँ' पूरे स्त्री-समाज का मार्गदर्शन करनेवाली पुस्तक है। नैतिकता और कर्मवाद से उनकी आलोचना परांगमुख नहीं है। महादेवी की उक्ति है कि 'आज कवि का सन्त होना सम्भाव्य माना जाता है, पर सन्त में कवित्व अतीत की कथा मात्र'। महादेवी कवि-लेखक होने के कारण इसीलिए सन्त ठहरायी जा सकती हैं क्योंकि उन्होंने युग की विसंगति और कुचाल पर उँगली रखने के साथ-साथ पथ भी आलोकित किया है। एक सन्त करणीय बताता है, अकरणीय भी ज्ञापित करता है और तदुपरान्त पथ प्रशस्त करता हुआ जिज्ञासु का मार्ग–दर्शन करता है। 'कबिरा आप ठगाइए' कहकर सन्त कबीर करणीय चिह्नित करते हैं, 'और न ठगिये कोय' द्वारा अकरणीय बताते हैं तथा अन्त में 'आप ठगाए होत सुख, और ठगे दुख होय' जैसी पंक्ति लिखकर मार्गदर्शन करते हैं। महादेवी के साहित्य में हृदयवादी आग्रह के प्राचुर्य के कारण ऐहिक लोकोपदेशिता से इनकार नहीं किया जा सकता। कदाचित छायावादी कालखण्ड की हिन्दी आलोचना में अपशिष्ट-वर्जन और सत्क्रिया-प्रेरण की दो स्थूल भंगिमाएँ लक्षित की जानी बाकी हैं। महादेवी की आलोचना का एक शैक्षिक पाठ होना आवश्यक है। 'क्षणदा' पुस्तक के अन्तिम निबन्ध 'हमारे वैज्ञानिक युग की समस्या' में महादेवी की शिक्षा इस प्रकार हैः "आज जब विज्ञान ने वर्षों को घंटों में बदल

दिया है, तब वे मनुष्य को मनुष्य से अपरिचित क्यों रहने दें, बुद्धि को बुद्धि का आतंक क्यों बनने दें और हृदय को हृदय के विरोध में क्यों खड़ा होने दें। ... आज दूरी की निकटता बनाने के मुहूर्त में हमें निकट की दूरी से सावधान रहने की आवश्यकता है"। महादेवी ने अपने निबन्धों में जीवन और साहित्य की कुचाल को देखकर बहुत-से निषेध और बहुत सी वर्जनाएँ भी इंगित की हैं। काव्य में धार्मिक अतिरेक का निषेध बताती हुई महादेवी दो-टूक शब्दों में कहती हैं, "काव्य के मूल में धार्मिक उत्साह प्रेरक शक्ति का कार्य कर सकता है, किन्तु धार्मिक उत्साह से काव्य की उत्कृष्टता संभव नहीं होती। इसके विपरीत कभी-कभी ऐसे उत्साह के कारण काव्य अपने सर्वमान्य उन्नत लक्ष्य से च्युत हो जाता है"। अपने मतों की पुष्टि में महादेवी ने जो तर्क प्रस्तावित किये उससे समीक्षा-जगत् के बहुत से पारस्परिक विरोध दब गये। अपने तर्कों की भित्ति निर्मित कर उन्होंने न केवल 'छायावाद' के नामकरण पर उठ रहे वितण्डावाद को उलट डालने की चेष्टा की, बल्कि सकारात्मक रूप से छायावादी कविता के अवतीर्ण होने का औचित्य भी प्रमाणित कर दिया। बिल्कुल सामाजिक बदलाव को लक्षित कर महादेवी ने प्रतिपादित किया कि चूँकि युग व्यक्तिप्रधान हुआ जा रहा था, इसलिए स्वानुभूति-प्रधान काव्याभिव्यक्ति छायावाद में अपरिहार्य थी, "इस व्यक्तिप्रधान युग में व्यक्तिगत सुख-दुःख अपनी अभिव्यक्ति के लिए आकुल थे, अतः छायायुग का काव्य स्वानुभूति-प्रधान होने के कारण वैयक्तिक उल्लास-विषाद की अभिव्यक्ति का सफल माध्यम बन सका"।[२०] महादेवी के आलोचनात्मक निबन्धों से होकर गुजरने में एक यह तथ्य भी पकड़ में आता है कि पूरे काव्येतिहास में शाश्वत और सनातन कवियों की खोज करते-करते उनके पास वरेण्य कवियों और काव्य-वैशिष्ट्यों का समुच्चय हो गया है और वे उन आदर्श कवियों और कविता स्थितियों को अपने समकालीन विपर्यस्त काव्य-संसार में ढूँढ़ती फिरती हैं।

सन्दर्भ

१. आधुनिक हिन्दी-साहित्य में समालोचना का विकास, पृ. ३६१
२. वही, पृ. २५

३. वही, पृ. ८९
४. वही, पृ.५९
५. 'महादेवी, सम्पा. इन्द्रनाथ मदान, पृ.१०९
६. साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबन्ध, पृ.२७
७. संकल्पिता, पृ.४६
८. वही, पृ.४७
९. वही, पृ.४८
१०. वही, पृ.७०
११. वही, ७९
१२. साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबन्ध, पृ.४१
१३. वही, पृ.३३
१४. महादेवी, सम्पा. इन्द्रनाथ मदान, पृ.७८
१५. वही, पृ.७९
१६. साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबन्ध, पृ.६०
१७. वही, पृ. ६१
१८. वही, पृ. ६१
१९. आधुनिक हिन्दी-साहित्य में समालोचना का विकास, पृ.३७४
२०. साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबन्ध, पृ.८८

रवीन्द्रनाथ और महादेवी

—शकुन्तला मिश्र

महादेवी वर्मा छायावादी कवियों में से एक हैं और उन्हें इसी रूप में देखना उचित भी है, न कि वे स्त्री हैं और उनकी कविताओं में स्त्री मानसिकता की अभिव्यक्ति है। वरन् यह कहना चाहिए कि उनकी कविताओं में अभिव्यक्त भावनाएँ-अनुभूतियाँ उनकी निजी हैं और यही उनका वैशिष्ट्य भी है। उन्होंने अपनी कविताओं में लोक की व्यथा-वेदना को जैसे अपने में समाहित कर लिया है। यही व्यथा तथा करुणा उनको परमतत्त्व के प्रति आकर्षित करती है और प्रकृति – जो छायावादी कविता का आधार है – के माध्यम से वे अपनी कविता को अभिव्यक्ति देती हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उनकी कविताओं में मात्र रहस्यवाद देखा तो बच्चन सिंह ने भारतीय नारी की बेड़ियों में जकड़े हुए जीवन की व्यथा-कथा को। हिन्दी-भवन में हलवासिया स्मृति व्याख्यान में प्रो. खगेन्द्र ठाकुर ने उल्लेख किया कि महादेवी ने अपने जीवन भर में एक ही कविता लिखी। अंशतः यह बात ठीक हो सकती है, क्योंकि उनकी कविताओं की भावभूमि एक ही है और वह है विरह-भावना तथा प्रकृति के माध्यम से परमतत्त्व विषयक अभिव्यक्ति या मर मिटने की चाह। परन्तु उनकी प्रत्येक कविता का स्वतन्त्र रूप से विवेचन करने पर हम पाते हैं कि भावभूमि एक होते हुए भी उनमें अनेक प्रकार की कल्पना-छवियाँ मिलती हैं। स्त्री होने के नाते उनके भीतर जो स्नेह-निर्झर बह रहा है वही सम्पूर्ण मानवता के मंगल के लिए प्रेम तथा करुणा का अथाह सागर बन कर उमड़ पड़ा है।

महादेवी की कविताओं में रहस्यवाद की चर्चा होते ही सबसे पहले हमारा ध्यान 'गीताञ्जलि' की ओर जाता है। इस सन्दर्भ में विचारणीय है कि रवीन्द्रनाथ के बारे में वे क्या सोचती थीं और रवीन्द्र तथा महादेवी के काव्य में भावभूमि की दृष्टि से क्या साम्य है। हिन्दी के महत्त्वपूर्ण कवियों-लेखकों में बहुत कम का रवीन्द्र

से प्रत्यक्ष परिचय था या वे शान्तिनिकेतन आये थे। प्रसाद, पन्त, निराला से रवीन्द्र का सीधा परिचय नहीं था। प्रेमचन्द को तो शान्तिनिकेतन में आमन्त्रित भी किया गया था, लेकिन उनका आना नहीं हुआ। रवीन्द्र के जीवनकाल में महादेवी वर्मा, रामधारी सिंह दिनकर और अज्ञेय का शान्तिनिकेतन आना हुआ था। महादेवी सबसे पहले १९३३ में रवीन्द्र के निकट सम्पर्क में आयीं जब वे इलाहाबाद गये थे। १९३५ में जापानी कवि नागूची मुख्यतः रवीन्द्रनाथ के आमन्त्रण पर कलकत्ते आये थे। उस समय दूसरे विश्वयुद्ध की काली छाया मँडरा रही थी। युद्धविरोधी मानवतावादी चिन्तक सम्मिलित रूप से अपनी आवाज उठा रहे थे। नागूची के स्वागत समारोह में प्रतिनिधि हिन्दी कवि के रूप में महादेवी सम्मिलित हुई थीं। कलकत्ते से ही वे रवीन्द्रनाथ की अतिथि के रूप में शान्तिनिकेतन आयीं । आखिरीबार महादेवीजी १९८० में शान्तिनिकेतन आयीं जब उन्होंने मुख्य अतिथि के रूप में दीक्षान्त समारोह में अपना भाषण दिया था।

महादेवी रवीन्द्र के साहित्य की विशेषताओं से परिचित थीं – इसका पता उनके 'कवीन्द्र' शीर्षक लेख से चलता है। इस लेख के अतिरिक्त रवीन्द्रनाथ के साहित्य की चर्चा उन्होंने कहीं नहीं की है, यहाँ तक कि भारतीय वाङ्मय की चर्चा करते हुए भी उन्हें रवीन्द्र का स्मरण नहीं हुआ। रवीन्द्र के व्यक्तित्व के बारे में वे लिखती हैं – "कवीन्द्र रवीन्द्र उन विरल साहित्यकारों में थे जिनके व्यक्तित्व और साहित्य में अद्भुत साम्य रहता है। जहाँ व्यक्तित्व को देख कर लगता है मानो काव्य की व्यापकता ही सिमट कर मूर्त हो गयी है और काव्य से परिचित हो कर जान पड़ता है मानो व्यक्ति ही तरल हो कर फैल गया है।" अन्य साहित्यकारों से रवीन्द्रनाथ की विशेषता का परिचय देते हुए वे लिखती हैं – "अपनी कल्पना को जीवन के सब क्षेत्रों में अनन्त अवतार देने की क्षमता रवीन्द्र की ऐसी विशेषता है जो अन्य महान साहित्यकारों में भी विरल है।"

रवीन्द्रकाव्य से छायावादी काव्य की तुलना की जाती है। प्रारम्भ में छायावादी कविता पर रवीन्द्रकविता के प्रभाव की भी चर्चा हुई। आचार्य शुक्ल जैसे

आलोचकों ने तो इस प्रभाव का विरोध किया तथा इसे हिन्दी की प्रकृति के विरुद्ध माना। किन्तु हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार छायावादी काव्य के भीतर रवीन्द्र-प्रभाव अन्तर्निहित प्रेरणा की भाँति कार्य करता रहा। ऐसा नहीं है कि छायावादी कवि पूरी तरह रवीन्द्र से ही प्रभावित हो कर काव्य-रचना करते रहे, वरन् रवीन्द्रकाव्य ने भारतीय काव्य के समक्ष एक ऐसा आदर्श प्रस्तुत किया जिससे सम्पूर्ण भारतीय साहित्य जाने-अनजाने प्रेरणा ग्रहण करता रहा। तथ्य की दृष्टि से हम देखें तो प्रसाद, पन्त और महादेवी की अपेक्षा निराला का ही रवीन्द्र-साहित्य से प्रत्यक्ष परिचय था। उन्होंने 'रवीन्द्र कविता कानन' शीर्षक एक पुस्तक भी लिखी जिसमें उन्होंने रवीन्द्र–साहित्य की विशेषताओं को समझने की कोशिश की। रवीन्द्रनाथ की गीताञ्जलि पर्व (खेया, गीताञ्जलि, गीतिमाल्य, गीतालि) की रचनाओं की विषयवस्तु की दृष्टि से छायावादी कवियों में महादेवी का काव्य उनके अधिक निकट है। आत्मार्पण की व्यग्र व्याकुलता, परमतत्व के प्रति पूर्ण समर्पण, उत्सुकता तथा एकान्त तन्मयता की दृष्टि से महादेवी की कविताएँ गीताञ्जलि की जाति की ही हैं। लेकिन यहाँ स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि अन्तर्वस्तु की दृष्टि से रवीन्द्र और महादेवी की कविता में जातिगत समानता भले ही दिख पड़े, दोनों की कविता का मिज़ाज अलग है। महादेवी को विरह ही प्यारा है तो रवीन्द्र विरह के साथ-साथ 'आनन्दधारा बहिछे भुवने' का गान भी करते हैं। महादेवी जहाँ आत्मसत्ता को अपने प्रिय में विलीन कर देना चाहती हैं, वहीं रवीन्द्र आत्मसत्ता के गुरुत्व का भी बखान करते हैं, जब वे कहते हैं कि मेरा जीवनदेवता मेरे देह-प्राण को इसलिए भर रहा है कि इसीके माध्यम से वह भी अमृतपान करता है –

हे मोर देवता
भारिया ए देह-प्राण
की अमृत तुमि चाह करिबारे पान ।

रवीन्द्रनाथ तो यहाँ तक कहते हैं कि यदि मैं नहीं होता तो त्रिभुवनेश्वर का प्रेम भी

व्यर्थ होता, इस प्रेम को पाने के लिए ही वे नीचे आते हैं – इसलिए वे मुझसे आनन्दित होते हैं –

ताइ तोमार आनन्द आमार पर
तुमि ताइ एसेछो नीचे
आमाय नइले त्रिभुवनेश्वर
तोमार प्रेम हत ये मिछे ।

रवीन्द्र और महादेवी की कविता की विषयवस्तु भले ही एक हो लेकिन जब हम दोनों में भावसाम्य खोजना चाहते हैं तो दोनों की कविताओं के एक-आध टुकड़ों को ही मिला सकते हैं – दोनों की कविता की भावभूमि और कल्पना अलग है। लेकिन जब दोनों अपने अज्ञात प्रिय और उसके प्रेम का, अभिसार का, जीवन में उसकी व्याप्ति और उसके विरह का और तद्‌जनित पीड़ा, दुःख, मृत्यु और अंधकार का वर्णन करते हैं तो दोनों में समानता दिखायी पड़ती है। स्थूल दृष्टि से एक बड़ी समानता यह दिखायी पड़ती है कि दोनों ने 'मैं' और 'तुम' सर्वनाम पद का खूब प्रयोग किया है।

महादेवी रवीन्द्र की तरह अपने लघुतम जीवन को असीम का सुन्दर मन्दिर मानती हैं, लेकिन इसके लिए उनके असीम को कोई प्रचेष्टा नहीं करनी पड़ती - सारी प्रचेष्टा एकतरफ़ा है – 'प्रिय प्रिय जपते अधर, ताल देता पलकों का नर्तन रे !' इस दृष्टि से विचार करें तो महादेवी के प्रेम में घनत्व, तन्मयता और निविड़ता अधिक है, रवीन्द्रनाथ का असीम सचेष्ट है। वह सीमा में अपने सुर को इसलिए बजा रहा है कि वह और मधुर रूप में प्रकाशित हो सके –

सीमार माझे, असीम, तुमि
बाजाओ आपन सुर ।
आमार मध्ये तोमार प्रकाश
ताइ एत मधुर ।

महादेवी और रवीन्द्र की तुलना के प्रसंग में धनंजय वर्मा ने लिखा है – "जहाँ तक भाव-विकास का सम्बन्ध है वे रवीन्द्र के निकट हैं। भावों की विभूति में महादेवी 'गीतांजलि' की पथगामी हैं, जबकि संगीत का बोध रवीन्द्र में अधिक है, कल्पना का औदात्य वहाँ अधिक है। भाषा के स्वाभाविक प्रवाह में महादेवी पीछे हैं और उनमें कला का प्रयास अधिक है।"[१] दो कवियों की तुलना की यह स्थूल शैली है। महादेवी रवीन्द्र की पथगामी हो सकती हैं, किन्तु उस पथ पर दोनों की चाल अलग है। इस चाल के वैशिष्ट्य को न समझ पाने के कारण ही 'भाषा का स्वाभाविक प्रवाह' दिखायी नहीं पड़ता ।

महादेवी और रवीन्द्र के सन्दर्भ में रहस्यवाद की भारतीय परम्परा की चर्चा की जाती है। महादेवी ने भी इस भारतीय परम्परा की चर्चा की है। इस चर्चा में उन्होंने रवीन्द्र की भाँति उपनिषदों को केन्द्र में रखा है और इस प्रसंग में मध्ययुगीन सन्तों और सूफियों की चर्चा भी की है। भारतीय रहस्यवाद से पश्चिम के रहस्यवाद के तात्त्विक अन्तर की ओर भी उन्होंने संकेत किया है। 'रहस्यवाद' शीर्षक अपने निबन्ध में इन सबकी चर्चा करते हुए अन्त में वे कहती हैं –"युगों के उपरान्त छायावाद के प्रतिनिधि कवियों ने भी इस विचारधारा का विद्युत स्पर्श अनुभव किया और यह न कहना अन्याय होगा कि उन्होंने उस परम्परा को अक्षुण्ण रखा। अनेक क्रूर-विरोध और विवेकशून्य आघातों के उपरान्त भी उनमें कोई दीनता नहीं, जीवन से उनका कोई सस्ता समझौता नहीं और कल्याण के लिए उनके निकट कोई अदेय मूल्य नहीं।"

महादेवी के काव्य और रवीन्द्रकाव्य के साम्य को भी महादेवी के उक्त कथन के आलोक में ही देखना होगा ।

सन्दर्भ

१. महादेवी, सम्पा. इन्द्रनाथ मदान, पृ. १०३

स्व० महादेवी वर्मा

—रामसिंह तोमर

महादेवीजी की गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर के प्रति असीम श्रद्धा थी। 'पथ के साथी' में उन्होंने 'प्रणाम' शीर्षक से गुरुदेव का जो रेखाचित्र प्रस्तुत किया है, वह अप्रतिम श्रद्धा से पूर्ण है। गुरुदेव के उन्होंने कई बार दर्शन किये थे। हिन्दी कविता, गद्य और साहित्य की नाना विधाओं को उन्होंने अपनी कृतियों से समृद्ध किया है। चित्रकला में उनकी गहरी रुचि थी। अपने समसामयिक अनेक विभूतियों के सम्पर्क में वे आयीं। महात्मा गांधी और गुरुदेव दोनों की ही कृपा उन्हें प्राप्त हुई थी। बंगाल के लिये उनके मन में विशेष स्थान था। बंगाल के विषम अकाल के समय उनका कोमल हृदय द्रवित हो उठा था और उन्होंने कवियों और विचारकों का ध्यान उस विभीषिका की ओर आकृष्ट किया और उस समय सहायता करने की अपील की थी। अपने पथ के साथियों से जनता की सहानुभूति जाग्रत करने के लिए कविताएँ लिखने का अनुरोध किया था। वैचारिक और आर्थिक सहायता देने की प्रेरणा देने वालों में वे अग्रणी थीं।

जब चीन ने भारत पर आक्रमण किया और यह लगा कि दुर्भेद्य और अजेय हिमालय को सेनाएँ लाँघ सकती हैं तब उन्होंने हिमालय के गौरव का कवियों को ध्यान दिलाया। भारत के प्राचीन साहित्य में हिमालय से सम्बन्धित प्राप्त उल्लेखों को एकत्रित किया और अनेक कवियों को हिमालय की ओर देखने के लिए उत्साहित किया और जो रचनाएँ उन्होंने लिखीं उनको सुन्दर ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित किया।

विश्वभारती के प्रति उनके मन में सदा आदर का भाव रहा क्योंकि उसे वे महान् गुरुदेव के चिन्तन और विचारों का साकार रूप समझती थीं। जब श्री उमाशंकरजी जोशी विश्वभारती के चांसलर थे तो १९८० में उन्होंने महादेवीजी को वार्षिक समावर्तन समारोह के मुख्य अतिथि के रूप में आमन्त्रित करने का निर्णय

किया। महादेवीजी को आमन्त्रित करने के लिए मैं इलाहाबाद गया। यद्यपि उनका स्वास्थ्य अच्छा नहीं था तथापि वे कष्ट कर के पधारीं। जहाँ तक मेरी जानकारी है, आम्रकुंज में विशाल जनसमूह के सम्मुख प्रथम बार हिन्दी में भाषण हुआ। महादेवीजी अद्‌भुत वाक्‌शक्ति सम्पन्न वक्ता थीं। 'अंजलिगत सुभ सुमन जिमि सम सुगंध कर दोउ' उद्धरण से भाषण आरम्भ किया। संस्कृतनिष्ठ प्रांजल हिन्दी में दिये उस भाषण को श्रोता मंत्रमुग्ध भाव से सुनते रहे। उनके भाषण और व्यक्तित्व का असाधारण प्रभाव पड़ा। महादेवी के बाद श्री जोशीजी ने भाषण देते हुए कहा था कि महादेवीजी ने अपनी मातृभाषा में ओजस्वी भाषण दिया था, उसके बाद उन्हें विदेशी भाषा में बोलना पड़ रहा है। महादेवीजी उस अवसर पर दो दिन शान्तिनिकेतन में रहीं। हिन्दी भवन पधारीं और मैं भी उनको अपने घर कुछ देर के लिए लाया। यहाँ उनका स्वास्थ्य खराब हो गया था, यहाँ से उन्हें कलकत्ता जाना था। श्री सेकसरियाजी उनको अपनी बहन मानते थे। उन्होंने कलकत्ता से उनके लिए दो मोटरें भेज दी थीं। हम कलकत्ता उनके साथ गये। सेकसरियाजी के आमन्त्रण पर वे अनेक बार कलकत्ता आयीं। महादेवीजी से मेरा परिचय इलाहाबाद में सन् १९४१ में हुआ। मैं जब तब उनके दर्शन करने उनके आवास महिला विद्यापीठ जाया करता था। एक बार यूनिवर्सिटी में फ्रेंच भाषा के अध्यापक फेरनांद वेनोआ मेरे साथ गये। वे हिन्दी नहीं जानते थे। महादेवीजी की बातें सुनते रहे। उन्होंने मुझे बताया कि भाषा न समझते हुए भी वे महादेवीजी के व्यक्तित्व से बहुत प्रभावित हुए। महादेवीजी की हँसी की उन्होंने बहुत प्रशंसा की, महादेवीजी बातें करते हुए बहुत हँसती थीं, हँसी स्वाभाविक होती थी। वे सभी को जलपान कराती थीं, चाहे कोई किसी भी उम्र का हो और किसी भी समय जावे। सरकार की भाषानीति से वे बहुत असन्तुष्ट थीं। उन्होंने एकबार कहा था कि पं. नेहरू से उन्होंने इस विषय में चर्चा की थी तो पंडितजी ने कहा था कि महादेवीजी की कविता उनकी समझ में नहीं आती। किन्तु महादेवी जी के यह कहने पर कि वे हिन्दी नहीं जानते तो नेहरूजी ने कहा था कि उनकी कविता समझने की कोशिश करेंगे। पूरे देश में महादेवीजी

का सम्मान था – वे जब तमिलनाडु में गयीं तो छोटे-छोटे कस्बों में भी स्थानीय लोगों ने उनका भव्य स्वागत किया।

महादेवीजी का ऐसा व्यक्तित्व था कि उसके सामने लोग भाषा विषयक संकीर्णताओं को भूल जाते थे। अब ऐसा व्यक्तित्व हिन्दी में नहीं है। हमारे सांस्कृतिक जीवन के सभी क्षेत्रों को उन्होंने समृद्ध किया। वे भारत के प्राचीन साहित्य में निष्णात थीं, अनुभवी शिक्षाशास्त्री थीं। मानवमात्र के प्रति उनके मन में असीम करुणा और सहानुभूति थी।

शान्तिनिकेतन की ओर से उनको हमारी श्रद्धांजलि ।

[विश्वभारती पत्रिका खंड २४, अंक १-४ में पूर्व प्रकाशित]

ग्रन्थ–चर्चा

‘दृषद्वती से गंगा तक’ (आचार्य मुंशीराम शर्मा ‘सोम’ स्मृति ग्रन्थ)

प्रधान सम्पादक : डॉ त्रिभुवन राय; प्रकाशक : आशीष प्रकाशन, कानपुर, २००५; पृष्ठ संख्या ५८०+३२; मूल्य: ५५० रुपये।

वैदिक साहित्य के मूर्धन्य विद्वान, हिन्दी के यशस्वी साहित्यकार आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम' हिन्दी के अध्येताओं में भक्ति साहित्य और विशेषकर सूर साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान एवं शोधार्थी के रूप में चिर प्रतिष्ठा प्राप्त साहित्यकार हैं। बहुआयामी साहित्यकार-व्यक्तित्व से प्रोद्भासित आचार्य सोम भावुक कवि, वैदिक चिन्तन एवं दर्शन पर केन्द्रित सुधी निबन्धकार तथा प्रगल्भ समीक्षक के अतिरिक्त एक भाषाविद् भी थे। उनकी जन्मशती के उपलक्ष्य में उनके प्रिय शिष्यों तथा विद्यानुरागी मित्रों ने यह योजना बनायी कि उनकी स्मृति में एक महत् ग्रन्थ का प्रकाशन हो जिसमें उनके भव्य व्यक्तित्व एवं कृतित्व के नाना पहलुओं का उद्घाटन हो। उसी निर्णय के आलोक में डॉ आनन्द प्रकाश दीक्षित, डॉ. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी, प्रो. सुरेश उपाध्याय, डॉ. चन्द्रकान्त बांदिवडेकर, डॉ. महीप सिंह, डॉ. रामानन्द शर्मा प्रभृति विद्वानों की परामर्श-समिति के मार्ग-दर्शन में डॉ. त्रिभुवन राय के प्रधान सम्पादकत्व में प्रकाशित ग्रन्थ-रत्न 'दृषद्वती से गंगा तक' स्थायी महत्त्व का है। डॉ. त्रिभुवन राय को इस महत् कार्य के सम्पादन में डॉ. शोभनाथ राय भट्ट, डॉ. दूधनाथ धर दूबे, डॉ. रामकृष्ण शर्मा तथा डॉ. शिवशंकर पांडेय का सक्रिय सहयोग मिलता रहा।

बड़ी निष्ठा एवं तत्परता से प्रकाशित इस बृहत् ग्रन्थ को रूप देने में उत्तर-दक्षिण, पूर्व-पश्चिम के अस्सी के ऊपर कृती रचनाकारों का योगदान रहा। इस स्मृति-ग्रन्थ के तीन खंड हैं। प्रथम खंड 'अंजलि और अर्घ्य' काव्यार्चन, संस्मरण और राष्ट्रप्रेम नामक तीन उपशीर्षकों में विभक्त है। काव्यार्चन में श्रद्धालु विद्वानों ने सन्त शिरोमणि, वेदाचार्य, विद्वद्वरेण्य, ऋषि-कल्प सोमजी की प्रशस्ति में काव्य

कुसुमांजलि अर्पित की है तो संस्मरण में शिष्यगणों तथा मित्रों ने संस्मरणात्मक आलेखों द्वारा उन्हें भाव-भीनी श्रद्धांजलि अर्पित की है। डॉ. आनन्द प्रकाश दीक्षित, डॉ. महीपसिंह, डॉ. कैलाशचन्द्र भाटिया, डॉ. कृष्णचन्द्र वर्मा, डॉ. विद्याबिन्दु सिंह, डॉ.विजयेन्द्र स्नातक आदि ने अपने प्रभावशाली लेखों से इस भाग को अलंकृत किया है। विद्वानों ने अपने संस्मरणों में आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम' की स्नेह सरलता, सारस्वत प्रतिभा, वैदिक साहित्य में प्राप्त मर्मज्ञता एवं वैदिक मुदिता, व्यक्तित्व में प्रतिभासित भारतीय सांस्कृतिक गरिमा एवं आर्यत्व की भावना पर विशेष बल दिया है। स्नेह-पूर्ण व्यवहार एवं मृदुभाषिता के धनी एवं सौम्य मूर्ति 'सोम' जी अपने शिष्यों के आराध्य एवं श्रद्धापात्र रहे। स्मृति-ग्रन्थ में संकलित सारे लेख उनके मानवीय व्यक्तित्व के विविध धरातलों पर प्रकाश डालते हैं। रागी-विरागी, गृहस्थ-संन्यासी 'सोम' का विराट् व्यक्तित्व था, जो सम्पर्क में आने वाले शिष्यों, मित्रों, साहित्यकारों को अभिभूत किये बिना नहीं रहता था। राष्ट्रवादी पुरुष 'सोम' प्रारम्भ काल से आर्य समाज तथा स्वतन्त्रता-संग्राम से जुड़ गये थे और उनका घर क्रान्तिकारियों का शरण-स्थल रहा।

इस स्मृति-ग्रन्थ का द्वितीय खंड आचार्य 'सोम' की सारस्वत-साधना एवं सारस्वत व्यक्तित्व का व्यापक फलक पर मूल्यांकन करता है। 'बोध और दृष्टि' वाले इस खंड के 'मूल्यांकन' और 'दृष्टि-लोक' के नाम से दो भाग हैं। 'मूल्यांकन' वाले भाग में यह दिखाया गया है कि आचार्य सोम कारयित्री एवं भावयित्री प्रतिभा-सम्पन्न थे। उन्होंने पद्य और गद्य में अपनी पहुँच दर्शायी है। मुक्तक गीतों की रचना के साथ उन्होंने 'विरहिणी' जैसे आध्यात्मिक एवं दार्शनिक महाकाव्य का भी सृजन किया है। वे आस्थावान भक्त-कवि हैं जिनकी दृष्टि उपास्य के नाम तथा रूप की महत्ता पर अधिक रीझती है। आर्यधर्म, विचार और विभूति, तत्वदर्शन, पुरुष सूक्त, वैदिकी आदि विचारोत्तेजक एवं चिन्तन प्रधान उनके निबन्ध-साहित्य के अन्तर्गत आते हैं। सूर-सौरभ, भारतीय साधना और सूर-साहित्य, सूरदास और भगवद्भक्ति, सूरदास का काव्य–वैभव, भक्ति का विकास, तुलसी का मानस आदि आचार्य सोम

के समीक्षक एवं शोधार्थी व्यक्तित्व को उजागर करने में समर्थ ग्रन्थ हैं। 'साहित्यशास्त्र' में साहित्य-चिन्तन का प्रमाण मिलता है तो 'हिन्दी साहित्य का उपोद्घात' में साहित्य का इतिहास परोसा गया है। समीक्षकों ने आचार्य 'सोम' के साहित्यकार व्यक्तित्व में कवि, भक्त एवं सन्त का समन्वित रूप देखा है। उनके सम्पूर्ण साहित्य को राग, अनुराग और विराग की त्रिवेणी माना है। इस खंड के 'दृष्टि-लोक' के अन्तर्गत समाविष्ट पन्द्रह आलेख उनकी लेखकीय दृष्टि, आस्था एवं स्थापनाओं का प्रतिपादन करते हैं। 'भक्ति का विकास' में उनके ईश्वरीय तत्त्व के प्रति गहन चिन्तन का परिचय मिलता है। प्राचीन वेद ग्रन्थों में वे भक्ति के सभी स्तरों का दर्शन करते हैं। हिन्दी के भक्ति साहित्य पर गहरी आस्था रखने वाले आचार्य ने कबीर, जायसी, सूर, तुलसी को नये दृष्टिकोण से व्याख्यायित करके वैदिक भक्ति से हिन्दी के भक्ति-कालीन साहित्य के साम्य-वैषम्य पर दृष्टि डाली है। आलेखों के विद्वान लेखकों ने भक्ति की साधना, भारतीय साधना और सूर-साहित्य जैसे ग्रन्थों का विश्लेषण-विवेचन करके 'सोम' के आस्थावान समीक्षक व्यक्तित्व को उभार कर दिखाने का सफल प्रयास किया है। पूर्व समीक्षकों के मन्तव्यों के आलोक में किसी साहित्यकार पर अपना निर्णय देने की 'सोम' की समीक्षक दृष्टि उन पक्षों का उद्घाटन करती है जो मानवता के परिष्कार एवं प्रतिष्ठा में सहायक हो।

इस स्मृति-ग्रन्थ का तृतीय खंड सर्वोपरि महत्त्वपूर्ण है। चूँकि आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम' का प्रिय विषय भक्ति साहित्य रहा, इसलिए सम्पादक-मंडल ने यह उचित एवं अनुपेक्षणीय समझा कि स्मृति-ग्रन्थ में भारतीय भक्ति-साहित्य का विवेचन हो। अतः यह खंड हिन्दी साहित्य के लिए एक स्थायी प्रदेय है जिसमें दो सौ बत्तीस पृष्ठों में 'भक्ति और भारतीय साहित्य' शीर्षक के अन्तर्गत भक्ति की व्याख्या एवं स्वरूप पर विचार करने के पश्चात संस्कृत, असमिया, मणिपुरी, उर्दू, पंजाबी, सिन्धी, कश्मीरी, ओड़िया, बांग्ला, गुजराती, मराठी, तमिल, तेलुगु, कन्नड़ तथा मलयालम भाषाओं में भक्ति के उद्भव, स्वरूप एवं विकास पर अधिकारी विद्वानों की लेखनी से निःसृत सुविचारित एवं सुलिखित बाईस लेख संगृहीत हैं जो

भारत की भावात्मक एकता एवं समतामयी संस्कृति का आभास देते हैं। यह खंड अपने में पूर्ण है और इसे एक पृथक् पुस्तक के रूप में भी प्रकाशित किया जा सकता है। यह भक्ति-साहित्य के तुलनात्मक अध्येताओं तथा शोधार्थियों के लिए मार्ग-दर्शक सिद्ध होगा।

ग्रन्थ के अन्त में चार परिशिष्ट—पत्रों के दर्पण में 'सोम', आचार्य सोमः जीवन वृत्त और कृतियाँ, लेखक-सूची, समिति–सदस्य–जोड़ दिये गये हैं। पत्रों के दर्पण में 'सोम' में उनके द्वारा विविध स्तर के लोगों के नाम लिखे गये चन्द पत्रों को समाविष्ट किया गया है। यह सही कहा गया है कि व्यक्ति की आत्मीयता पूरी सहजता के साथ पत्रों में खुल जाती है, क्योंकि वहाँ दुराव-छिपाव के लिए गुंजाइश नहीं रहती। अतः 'सोम' के ये पत्र उनकी अन्तरंग संवेदनाओं, अनुभूतियों को समझने में सहायक हैं। उनका जीवन वृत्त एवं कृतियों की सूची उपयोगी है, इस अर्थ में कि वह आचार्य सोम की धर्मनिष्ठा, कर्मनिष्ठा एवं श्रमनिष्ठा का अनुमान लगाने में सहायक है।

कुल-मिलाकर 'दृषद्वती से गंगा तक' शीर्षक इस स्मृति-ग्रन्थ में सोम जी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के व्यापक क्षितिज का उद्घाटन करने के साथ-साथ भारतीय भक्ति-साहित्य को उजागर करने में सम्पादक-मंडल की निष्ठा, तत्परता एवं अध्यवसाय का परिचय मिलता है। त्रुटिहीन मुद्रण के साथ बहुत ही आकर्षक एवं सुन्दर साज-सज्जा के साथ इसे प्रकाशित किया गया है ।

– एन.पी.कुट्टन पिल्लै

महादेवी वर्मा जन्मशती समारोह

२५-२७ अगस्त, २००६ को विश्वभारती की ओर से हिन्दी विभाग में कवयित्री महादेवी वर्मा जन्मशती के उपलक्ष्य पर तीन दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन किया गया। इस संगोष्ठी में देश के विभिन्न भागों से आये विद्वानों ने भाग लिया। संगोष्ठी का शुभारम्भ गोरखपुर विश्वविद्यालय के पूर्व हिन्दी विभागाध्यक्ष प्रो.रामदेव शुक्ल ने दीप प्रज्वलित कर के किया। मंगलाचरण के पश्चात् विभागाध्यक्ष प्रो. मंजुरानी सिंह ने उद्घाटन सत्र में आगत विद्वानों का स्वागत करते हुए संगोष्ठी के उद्देश्य पर प्रकाश डाला। प्रो. रामदेव शुक्ल ने विषय-प्रवर्तन करते हुए हिन्दी नवजागरण की चर्चा की और महादेवी के साहित्य के विविध आयामों की ओर सबका ध्यान आकृष्ट किया। उद्घाटन सत्र का सभापतित्व करते हुए विद्याभवन (विश्वभारती का मानविकी संकाय) के अध्यक्ष प्रो. गणपति सुब्बैया ने महादेवी द्वारा प्रकाश में आये हिन्दी महिला लेखन के सशक्त स्वर का अभिनन्दन करते हुए संगोष्ठी की सफलता की कामना की। इस सत्र का संचालन डॉ. सुभाषचन्द्र राय ने किया एवं धन्यवादज्ञापन किया प्रो. हरिश्चन्द्र मिश्र ने।

दूसरे सत्र का संचालन डॉ. शैलेन्द्र कुमार त्रिपाठी ने किया, सभापति थे विभाग के पूर्व अध्यक्ष प्रो. भोलानाथ मिश्र। इस सत्र में प्रो. हरिश्चन्द्र मिश्र, प्रो. रामेश्वर मिश्र तथा डॉ. रामचन्द्र राय ने अपने वक्तव्य प्रस्तुत किये। प्रो. हरिश्चन्द्र मिश्र ने महादेवी को खड़ीबोली गद्य के समान खड़ीबोली काव्य को दर्जा दिलाने वाली, भाषा को संस्कारित तथा परिपूर्णता प्रदान करने वाली कवयित्री के रूप में याद किया, वहीं उन्होंने इस बात पर भी जोर दिया कि पहली बार छायावाद में कविता बनी। यहीं आ कर आधुनिक युग में पहली बार भारतीय सांस्कृतिक चेतना को प्रतिष्ठा और पहचान मिली। प्रो. मिश्र ने यह भी कहा कि महादेवी ने पहली बार इस युग में स्त्री को एक नयी भूमिका में प्रस्तुत किया जो अपनी तमाम विडम्बनाओं, विवशताओं के बावजूद आत्मविश्वास से परिपूर्ण थी। प्रो. रामेश्वर मिश्र ने महादेवी

पर रवीन्द्रनाथ के प्रभाव को रेखांकित करते हुए रहस्यवाद के सम्बन्ध में विचारणीय प्रश्न उठाये तथा यह कहा कि महादेवी का गद्य और पद्य अलग नहीं है–दोनों में करुणा समान रूप से है। उनकी प्रेम-चेतना में ही विरह-चेतना है, यह विरह ही मृत्युबोध को गौरवान्वित कर रहा है। उन्होंने महादेवी में नारी-मुक्ति की चिन्ता को गम्भीरता से विचारने की जरूरत पर बल दिया। डॉ. रामचन्द्र राय ने महादेवी की कविता की पृष्ठभूमि को तात्कालिक राजनीतिक चेतना से प्रभावित बताते हुए उसके पुनर्मूल्यांकन पर जोर दिया। अध्यक्षीय भाषण में प्रो. भोलानाथ मिश्र ने संचालक द्वारा 'परम्परा के आगमन की ताबड़तोड़ घोषणा' की चिन्ता पर कहा कि साहित्य में ऐसी घोषणाएँ होती रहती हैं, चिन्तन की धारा के बदलने के साथ परम्पराएँ भी आती जाती रहती हैं। संगोष्ठी के दूसरे दिन के पहले सत्र का भी संचालन डॉ. शैलेन्द्र कुमार त्रिपाठी ने किया। उन्होंने महादेवी के अन्तिम साक्षात्कार (जो उन्हीं का लिया हुआ है) के प्रसंग में आत्मीय संस्मरण सुनाये। इलाहाबाद से आगत विद्वान प्रो. राजेन्द्र कुमार ने भी कई आत्मीय संस्मरणों की चर्चा करते हुए मीरा के साथ महादेवी की तुलना को अनुचित बताया तथा कहा कि महादेवी की संवेदना मीरा से हट कर थी। महादेवी मीरा के समान सन्तों के साथ बैठीं पर पूरी मान-मर्यादा के साथ और फिर मीरा के 'दूसरो न कोई' का सच भी महादेवी के लिए यह था कि मेरे लिए कोई दूसरा नहीं है, सभी मेरे अपने हैं। महादेवी की संवेदना के विस्तार में गिलहरी से ले कर प्रधानमन्त्री तक हैं। महादेवी वेदना के उल्लास, आह्लाद की कवयित्री हैं, यह वेदना ही उनकी ताकत का स्रोत है। उनके काव्य के बीज शब्द हैं–लघुता और नश्वरता। महादेवी के काव्य ने भारतीयता का आधुनिक पाठ हमारे सामने रखा, उनके यहाँ शब्दों को उनके परम्परित पाठ से मुक्ति मिली। मुक्तिबोध ने जिस सत्चित, वेदना की बात कही है वह महादेवी की वेदना से ही अनुप्राणित है। इस प्रकार महादेवी एक ऐसे प्रकाश-स्तम्भ के रूप में सामने आती हैं जो अपने पूर्व और परवर्ती दोनों को ही आलोकित करती दिखती हैं, इसीलिए महादेवी का पुनर्पाठ आवश्यक है। डॉ. मुक्तेश्वरनाथ तिवारी ने महादेवी के स्वर को

बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध की एक अकेली महिला का सशक्त स्वर बताया और उनके काव्य के साथ-साथ उनके गद्य की गम्भीरता और व्यापकता पर सबको ध्यान देने को कहा। डॉ. तिवारी स्त्री-विमर्श की शुरुआत ही महादेवी के गद्य से मानते हैं। उनके अनुसार महादेवी के साहित्य में लघुता, आभिजात्य, प्रगति और प्रयोग का अद्‌भुत् समन्वय है। सायंकालीन सत्र में डॉ. अजय राय ने महादेवी के गीतों का गायन किया। तबले पर उनका साथ दिया संगीतभवन के अध्यापक श्री तपन राय ने। श्रीमती शिखा चक्रवर्ती ने हिन्दी में रवीन्द्र संगीत प्रस्तुत किया। इस सत्र का संचालन डॉ. सुभाषचन्द्र राय ने किया।

तीसरे दिन समापन सत्र का संचालन किया डॉ. जगदीश भगत ने और इस सत्र के सभापति थे प्रो. रामदेव शुक्ल। इस सत्र की मुख्य वक्ता थीं उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद की प्रो. माणिक्यम्बा। उन्होंने महादेवी के जीवन और साहित्य के विविध पक्षों का उद्‌घाटन बड़ी शालीनता और आत्मीयता पूर्वक किया। डॉ.शकुन्तला मिश्र ने 'रवीन्द्रनाथ और महादेवी' शीर्षक अपना आलेख प्रस्तुत किया जिसमें उन्होंने दोनों के साहित्य के अन्तःसम्बन्धों का गहराई से विश्लेषण प्रस्तुत किया। प्रो. मंजुरानी सिंह ने अपने आलेख 'नवजागरण और महादेवी का मनोजगत्' में नवजागरण के परिप्रेक्ष्य में महादेवी के मनोजगत् और साहित्य की गम्भीरता से पड़ताल की। इसी सत्र में हैदराबाद संस्कृत अकादमी की अध्यक्ष प्रो. के. कमला ने भी 'भारतीय साहित्य में नारी चैतन्य और महादेवी' विषयक अपना वक्तव्य प्रस्तुत किया। सभापति प्रो. रामदेव शुक्ल ने विभागीय छात्र–छात्राओं की जिज्ञासाओं का समाधान करते हुए महादेवी के साहित्य के महत्त्व पर प्रकाश डाला। विभागाध्यक्ष प्रो. मंजुरानी सिंह द्वारा धन्यवाद-ज्ञापन के साथ समारोह सम्पन्न हुआ।

—जगदीश भगत

पुण्य-स्मरण

स्व. सत्यप्रकाश मिश्र : प्रयाग का साहित्य-सचेतस

सुल्तानपुर जिले के कादीपुर कस्बे के एक बेटे ने २७ मार्च, २००७ की सन्ध्या में इहलोक की लीला समाप्त करके सबसे विदाई ले ली। एक साथ परिवारजन से लेकर आत्मीय-स्वजन एवं सारा इलाहाबाद तथा सारा हिन्दी जगत् दुःख से आहत हुआ, वीरान हो गया इलाहाबाद का साहित्यिक माहौल।

कादीपुर कस्बे के एक सामान्य गृहस्थ परिवार में जन्मे बेटे का नाम रखा गया था 'सत्यप्रकाश'। छोटी आय में अतिरिक्त खर्च ने उन्हें स्वभाव से सहज और सामान्य बना दिया था। जीवनभर खाने-पहनने की सहजता उनकी विशिष्टता रही। एक पतलून-शर्ट या इधर कुछ समय से पायजामा पहनते रहे। कोई परवाह नहीं कि पतलून-शर्ट पर इस्तरी हुई है या नहीं, बालों में कंघी की है या नहीं। अपनी पोशाक एवं सजावट से निहायत बेपरवाह। परवाह बस साहित्य की, नयी साहित्यिक आलोचना की, साहित्य और आलोचना की सही पहचान की। बड़े-बड़े आलोचकों की नकेल पकड़ने में समर्थ एक विराट सचेतस की भूमिका में पहुँचाया था इस बेपरवाही एवं परवाही ने। एक सामान्य परिवार का बेटा एक प्रखर विद्याबली बन जायेगा कौन जानता है ! उनकी विद्या, उनकी सचेतसकीय चेतना हमेशा उनके भीतर से खनखनाती रहती थी। सारा ज्ञान जिह्वाग्र पर हमेशा विराजमान था। उनकी स्मृति हमेशा नयी सोच के साथ फड़फड़ाती रहती थी। किसी भी विषय पर प्रश्न करते ही उनकी धाराप्रवाह वाणी सरसराकर आगे बढ़ने लगती। किसी भी विषय का प्रतिबन्ध नहीं मानती थी उनकी मेधा। कभी कुछ लिखित अवलम्ब लेकर वे अपनी कक्षा नहीं लेते थे। मुझे याद है वे बी.ए. में हमारी कक्षा लेते थे। भाषा-विज्ञान पढ़ा रहे हैं। एक दम मौखिक। महीनों छुट्टी हो गयी। पुनः विद्यालय खुलने पर कक्षा में आये और उसी पंक्ति के बाद पढ़ाना आरम्भ – जहाँ तक पढ़ा चुके थे। आश्चर्य होता था कि न लिखा है न छात्रों से पूछते हैं और पिछली कक्षा के

पाठ्यबिन्दु याद हैं।

आज उनके प्रति श्रद्धांजलि अर्पण के समय उनका व्यक्तित्व एकदम सामने चित्रित हो जा रहा है। मेरे बड़े भाई स्वर्गीय डॉ. सुरेशचन्द्र मिश्र के पक्के दोस्त थे सत्यप्रकाशजी। इसी नाते हमलोग उन्हें भइया ही कहते। सुरेश-सत्यप्रकाश एक–जुट सम्बोधन भी बन गये थे। उसमें कुछ और जुड़ा था तो मुंशीजी (लक्ष्मीकान्त वर्मा) का नाम। तीनों व्यक्ति साथ-साथ घूमते, काफी हाउस जाते और साहित्यिक गोष्ठियों में भाग लेते। उनके साहित्यिक निर्माण की शुरुआत थी इसी त्रिगुट के साथ। प्रोफेसर जगदीश गुप्तजी के निर्देशन में उन्होंने 'रीतिकाव्य में कविशिक्षा की परम्परा' विषय पर शोधकार्य किया था जो पुस्तक रूप में प्रकाशित भी हो चुकी है। शोधकार्य तो उन्होंने प्रोफेसर जगदीश गुप्त के साथ किया था, किन्तु साहित्यिक सम्पर्क ज्यादा तो रघुवंशजी के साथ ही था। अतः बड़े संघर्ष में उन्होंने डी० फिल् की डिग्री प्राप्त की। रघुवंशजी के साथ मिलना-जुलना, साहित्यिक चर्चा करना तथा उनकी रचनाओं में भी अनेक प्रकार की मदद करना अभ्यास-सा बन गया था। रघुवंशजी के प्रति उनकी जितनी श्रद्धा थी उससे कम रघुवंशजी उन्हें स्नेह और श्रद्धा नहीं करते थे। उसी तरह प्रोफेसर रामस्वरूप चतुर्वेदी से उनका विद्यार्थी से ज्यादा आत्मीय सम्बन्ध था, यह प्रमाणित है चतुर्वेदी जी की आलोचना की तीन निबन्धों वाली पुस्तक की भूमिका से।

याद आता है रात में सुरेश भइया और मुंशीजी के साथ सत्यप्रकाशजी प्रायः ऊँचामण्डी के घनघोर घर में आते और हाथ की बनी रोटी तरकारी बड़ी सहजता से खा लेते। कहते, मुंशोजी हरिश्चन्द्र बहुत अच्छी तरकारी बनाता है। और मुंशीजी कहते नान ब्राह्मिन तरकारी। मैं उस समय इण्टरमीडियट का छात्र था। सत्यप्रकाशजी हम लोगों की तरह ही मेरे माता-पिता को मौसी और चाचा कहते। मेरी सभी बहनों और हम लोगों की शादी में गाँव गये थे। उनकी सहजता ने गाँव के मन में स्थान बना लिया था। बारात में खाँटी बाराती बन जाते सत्यप्रकाश भइया। न धूप की परवाह न सोने की परवाह। भाई कैलाशनाथ मिश्र की शादी में जून की

प्रचण्ड दूपहरी में सात कोस पैदल दौड़ते से चल रहे थे सत्यप्रकाश भइया, हँसी-मजाक की बाराती भूमिका में सिर पर पगड़ी बाँधे भागे जा रहे थे। सन् १९७० ई० की इस बारात में एक नवयुवक की त्वरा उनमें थी। गेहूँ की पैर पर गमछा बिछाकर खुली हवा में सो गये थे सत्यप्रकाश भइया। तनिक भी बनावट नहीं। बड़े मस्त-प्रसन्न, किन्तु किसी भी प्रकार की गलती या अन्याय बरदाश्त नहीं कर पाते। उनके क्रोध का आतंक भी था, किन्तु उनके विद्याबल एवं उनकी सहजता में उस क्रोध को लोगों ने गुण मान लिया था। अपनी प्रगतिशील चेतना में सत्यप्रकाशजी में भारतीय आचार्यों का वह लक्षण हमेशा विराजमान था जो विद्या को जिह्वाग्र पर रखना जानते थे। पुस्तकस्थित विद्या में उनकी आस्था नहीं थी। अतः नये साहित्यिक चिन्तन के धरातल पर अपनी विद्या को खँगालकर वे हमेशा जिह्वा पर रखते थे। उनका वैदुष्य, उनके लेखन से अधिक उनकी वाणी में स्फुटित होता रहता था। अतः पुस्तकों की संख्या बहुत न होने पर भी वे स्वयं विशाल कोश थे। उनकी प्रकाशित दो पुस्तकें 'रीतिकाव्य में कविशिक्षा की परम्परा' एवं 'आलोचक और समीक्षाएँ' अपना वैशिष्ट्य रखती हैं।

उनकी भूमिका के साथ उनके द्वारा सम्पादित ग्रन्थ काफी महत्त्वपूर्ण बन चुके हैं। 'बालकृष्ण भट्ट के श्रेष्ठ निबन्ध', 'प्रसाद ग्रन्थावली', 'ज्ञानरंजन का रचना संसार', 'गोदान का महत्त्व', 'आलोचना और बौद्धिकता' आदि सम्पादन कार्यों में उनकी साहित्यिक एवं आलोचना की दृष्टि भरी पड़ी है। 'माध्यम' पत्रिका का सम्पादन कार्य बड़ी सफलता से कर रहे थे। यही नहीं साहित्य-सम्मेलन में इस समय वे मेरुदण्ड की भूमिका में थे। आपसी तनाव के बीच साहित्य-सम्मेलन को पुनर्जीवन दिया था उन्होंने।

इलाहाबाद में साहित्यिक सांस्कृतिक सन्नाटे को परखते हुए उन्होंने उसका निदर्शन एक सतत लेखन के रूप में दिनमान में किया। उसकी काफी चर्चा हुई। झझकोर दिया था उस लेखन ने इलाहाबाद को, हिन्दी जगत् को। यही नहीं महाबली के पतन ने एक और झंझा खड़ा किया था। संगोष्ठी, कार्यशाला आदि के प्राण और

पर्यायवाची बन गये थे डॉ. सत्यप्रकाश मिश्र। इधर इलाहाबाद में आकर वक्तव्य देने में बड़े-बड़े महारथी थर्रा जाते थे, क्योंकि वहाँ डॉ. सत्यप्रकाश मिश्र होंगे। यदि कहीं रिफ्रेशर कोर्स में वक्तव्य देने जाते तो उनके वक्तव्य के बाद किसी का वक्तव्य क्यों अच्छा लगे। छा जाते थे डॉ. सत्यप्रकाश मिश्र। इलाहाबाद के सन्नाटे की परवाह करने वाला इलाहाबाद का वह उर्जस्वित सचेतस सन्नाटा करके चला गया। विश्वभारती का हिन्दी विभाग भी आहत हुआ इस खबर से। बस अब तो बच गया श्रद्धांजलि स्वरूप इन शब्दों को देना। अपनी और पूरे हिन्दी परिवार की श्रद्धा समर्पित है उस सत्य के प्रकाश को।

— हरिश्चन्द्र मिश्र

अपनी बात

विगत वर्षों में हिन्दी के कुछ महत्त्वपूर्ण साहित्यकारों की जन्मशती मनायी गयी । प्रस्तुत अंक में सुभद्रा कुमारी चौहान (जन्म १९०४), जैनेन्द्र कुमार (जन्म १९०५) और महादेवी वर्मा (जन्म १९०७) से सम्बन्धित आलेख प्रकाशित किये जा रहे हैं। इनमें कुछ आलेख हिन्दी भवन, शान्तिनिकेतन में आयोजित जन्मशती संगोष्ठी में प्रस्तुत किये गये थे।

२००७ का वर्ष राष्ट्रीय दृष्टि से भी कई कारणों से महत्त्वपूर्ण है। इस वर्ष भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम की डेढ़ सौवीं वर्षगाँठ है, जिसे प्रारम्भ में सिपाही विद्रोह कहा गया था। सम्पूर्ण देश में उत्साहपूर्वक इसका स्मरण किया गया है। यह भी स्मरणीय है कि पलाशी के युद्ध के भी २५० वर्ष पूरे हुए, जिसमें अंग्रेजी कम्पनी ने छल-बल से सिराजुद्दौला को परास्त कर इस देश में अपने पाँव जमाये थे।

१८५७ की घटना भारतीय इतिहास की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना है, साथ ही विवादित भी। इस बात की चर्चा इतिहासकारों, बुद्धिजीवियों और जनसाधारण में होती रही है कि १८५७ के संघर्ष को भारतीय राष्ट्र का प्रथम स्वाधीनता संग्राम कहना उचित होगा या नहीं! प्रारम्भिक इतिहास ग्रन्थों में यह 'सिपाही विद्रोह' के रूप में ही प्रचलित रहा। जो इतिहासकार इसे सिपाही विद्रोह कहते हैं, उनके अनुसार यह सिपाहियों और सामन्तों का विद्रोह था। कुछ धार्मिक कारणों से और अपने कुछ निजी स्वार्थवश उन्होंने इस संघर्ष में भाग लिया। इसमें जनभागीदारी नहीं थी। लेकिन आज यह धारणा निर्मूल हो गयी है। जिन तथ्यों और घटनाओं की अब चर्चा हो रही है उससे यह स्पष्ट है कि अंग्रेजों के अत्याचार और शोषण के विरुद्ध सिपाहियों और सामन्तों-राजाओं के साथ सामान्य जनता के एक बहुत बड़े भाग ने इसमें उत्साहपूर्वक भाग लिया। ईस्ट इंडिया कम्पनी की दमननीति और उनके सहयोगी सामन्तों–जमींदारों के खिलाफ विद्रोह की सुदीर्घ परम्परा में

सत्तावन के महाविद्रोह ने भारतीय स्वाधीनता संघर्ष की धारा को निश्चय ही आगे बढ़ाया। इसके पूर्व के विद्रोहों में सन्यासी विद्रोह, वेल्लोर के सिपाही विद्रोह और संथाल विद्रोह की चर्चा विशेष रूप से होती रही है।

सत्तावन की क्रान्ति का प्रसार देश के बहुत बड़े भू-भाग में हुआ। इसकी विस्तृति बिहार से लेकर दिल्ली तक थी जिसमें भोजपुर, अवध, बुन्देलखंड और रुहेलखंड के सिपाहियों, सामन्तों, किसानों सहित जनता के सभी वर्गों और सम्प्रदायों ने आपसी भेदभाव भुला कर सहयोग किया । मंगल पाण्डे, तात्या टोपे, अजीमुल्ला खान, कुँवर सिंह, नाना साहब, खान बहादुर खान, बेगम हज़रत महल, रानी लक्ष्मी बाई और बहादुर शाह जफ़र इस आन्दोलन के नायक के रूप में उभरे। नये शोधों से विभिन्न प्रदेशों—भोजपुर, मध्यभारत, राजस्थान, रुहेलखंड, मेवात, कुमाऊँ आदि से इस संग्राम के और भी कई वीरों के नाम सामने आये हैं, जिनकी चर्चा अब तक नहीं हुई थी। सत्तावन की क्रान्ति के कारणों, इसके स्वरूप तथा परिणाम और तथ्यों-घटनाओं की चर्चा इतिहासकार कर रहे हैं और आगे भी करेंगे, जहाँ तक इसके साहित्यिक पक्ष का सवाल है उसका प्रत्यक्ष प्रमाण हमारे सामने सुभद्रा कुमारी चौहान की कालजयी रचना 'झाँसी की रानी' है ।

१८५७ के आस-पास और उसके तत्काल बाद सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में इस संघर्ष की प्रत्यक्ष चर्चा न के बराबर है, जो है भी वह सकारात्मक रूप में नहीं है। मिर्जा ग़ालिब दिल्ली में इस संघर्ष के प्रत्यक्षदर्शी ही नहीं भुक्तभोगी भी थे। इसकी चर्चा उन्होंने जिस रूप में की है उससे कहीं भी नहीं लगता कि वे इसके पक्ष में थे। इस विद्रोह को वे दिल्ली के उजड़ने का कारण मानते हैं और अपने व्यक्तिगत दुःखों का भी। मेरठ के बाग़ी सिपाही उनकी दृष्टि में 'नमकहराम' थे। न्यायकारी अंग्रेज अफ़सरों और चाँदी जैसे बदन वाली, चन्द्रमुखी अंग्रेज महिलाओं की हत्या पर उन्हें अफ़सोस होता है। 'दस्तम्बू' में १८५७ की घटना को उन्होंने अपने नज़रिये से शोकगीत की तरह प्रस्तुत किया है।

हिन्दी के सुप्रसिद्ध साहित्यकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र १८५७ में सात वर्ष के थे । अतः १८५७ की घटनाओं के वे प्रत्यक्षदर्शी तो नहीं होंगे, लेकिन बाद में भी

उनकी किसी रचना में सत्तावन की क्रान्ति का सकारात्मक उल्लेख नहीं है। उनके लिए सिपाही विद्रोह ऐसी आग थी जिसे अंग्रेजों ने जलरूपी बल से नष्ट कर दिया जिसके परिणामस्वरूप अंग्रेजों के डर के मारे यहाँ के लोग सिर भी न हिला सकते थे –

कठिन सिपाही द्रोह अनल जा जल बल नासी ।
जिन भय सिर न हिलाय सकत कहुँ भारतवासी ।।

वस्तुतः शिक्षित समुदाय और मध्यवर्ग की सहानुभूति सत्तावन की क्रान्ति के प्रति नहीं थी। यदि थी भी तो प्रत्यक्ष रूप से उसे प्रकट करना सम्भव नहीं था। भारतेन्दु के कथन 'जिन भय सिर न हिलाय' से यह स्पष्ट है। सत्तावन की क्रान्ति का तत्कालीन हिन्दी साहित्य में भले ही स्पष्ट रूप से सकारात्मक उल्लेख न हो, किन्तु भारतीय समाज, विशेष रूप से हिन्दी प्रदेश पर इसका स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। डॉ. रामविलास शर्मा का स्पष्ट मत है कि 'हिन्दी प्रदेश में नवजागरण १८५७ ई. के स्वाधीनता-संग्राम से शुरू होता है।' हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक पुरोधा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भले ही 'विद्रोह' के प्रति सम्मान प्रदर्शन न किया हो लेकिन ऐसा लगता है कि आन्दोलनकारियों के कार्यक्रम से वे पूरी तरह परिचित थे। १८५७ में आन्दोलनकारियों ने दिल्ली में बादशाह के नाम से तथा लखनऊ में बेगम हज़रत महल के नाम से तथा अन्य स्थानों पर इश्तहार तथा कार्यक्रम प्रस्तुत किये, उसमें अंग्रेजी राज के अन्तर्गत किसानों, जमींदारों, व्यापारियों आदि की स्थिति का विश्लेषण किया। डॉ. शर्मा के अनुसार गदर के इश्तहारों में भारतीय व्यापार और उद्योग-धन्धों के विनाश की जो बात कही गयी है, उसे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र दुहराते हैं। बहादुर शाह के नाम से जो इश्तहार जारी किया गया था, उसमें जमींदारों, व्यापारियों, सरकारी नौकरों, कारीगरों आदि की स्थिति अलग-अलग बयान की गयी है। गदर के दस साल बाद १८६८ में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'कवि-वचन-सुधा' पत्रिका निकाली। उन्होंने इसमें अपने देश की गरीबी और दुरववस्था के कारणों का जो विश्लेषण किया है उसका आन्दोलनकारियों के वक्तव्य से साम्य है। कृषि व्यवस्था, व्यापार और स्वदेशी वस्तुओं के व्यवहार के सम्बन्ध में भी उक्त इश्तहार और भारतेन्दु के विचारों में साम्य मिलता है।

भारतेन्दु तो 'कवि-वचन-सुधा' (६ जुलाई १८७४) में यहाँ तक घोषणा करते हैं कि 'जिस प्रकार अमेरिका उपनिवेशित होकर स्वाधीन हुई वैसे ही भारतवर्ष भी स्वाधीन हो सकता है।' इससे स्पष्ट है कि सत्तावन की क्रान्ति भले ही असफल हुई हो लेकिन उसने भारतवासियों के समक्ष विदेशी शासन नीति के दुष्परिणामों को स्पष्ट कर दिया था तथा लोगों के मन में स्वाधीनता की आकांक्षा जागृत कर दी थी। भारतेन्दु ने पहेलियों के माध्यम से भी अंग्रेजों के वास्तविक स्वरूप को स्पष्ट किया –

भीतर-भीतर सब रस चूसै, बाहर से तन-मन-धन मूसै ।
जाहिर बातन में अति तेज, क्यों सखि साजन, नहिं अंगरेज ।।

यही नहीं उन्होंने 'भारत दुर्दशा' नाटक में भारत की दुर्दशा का कारण अंग्रेजी राज को ही माना है। उनका स्पष्ट मत है कि 'जैसे हजार धारा होकर गंगा समुद्र में मिली है वैसे ही तुम्हारी लक्ष्मी हजार तरह से इंगलैंड, जर्मनी, अमेरिका को जाती है।' भारत की यह दुर्दशा उनसे देखी नहीं जाती—

अब जहँ देखहुँ तहँ दुःखहि दुःख दिखाई ।
हा हा ! भारत दुर्दशा न देखी जाई ।।

इस काल में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की तरह प्रतापनारायण मिश्र, दुर्गाप्रसाद मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त आदि पत्रकारों ने भी अंग्रेजी शासन नीति के बारे में लिखा।

बंगाल में भी सत्तावन की क्रान्ति के बारे में शिक्षित समाज तथा कवियों-लेखकों की प्रतिक्रिया अनुकूल नहीं थी, किन्तु ऐसा नहीं कहा जा सकता कि यहाँ उसका प्रभाव नहीं हुआ। बंगाली शिक्षित समाज ने गदर का समर्थन तो नहीं किया किन्तु अंग्रेजों की बदले की भावना का विरोध किया। सत्तावन के आन्दोलन के दो वर्ष बाद ही बंगाल में नील विद्रोह (१८५९-६०) ने जनआन्दोलन का रूप धारण किया। बंगाल के शिक्षित वर्ग ने इस कृषक आन्दोलन का समर्थन किया। हरिश्चन्द्र मुखर्जी ने 'हिन्दू पैट्रियाट' में उनके पक्ष में कई उत्तेजनापरक लेख लिखे। १८६० में दीनबन्धु मित्र ने 'नील दर्पण' नामक एक नाटक की रचना की, जिसका बंगाली समाज पर विशेष प्रभाव पड़ा। सत्तावन की क्रान्ति के समय के बंगाल के महत्त्वपूर्ण कवि हैं रंगलाल बंद्योपाध्याय (१८२७-८७ ई.)। १८५८ में प्रकाशित इनके 'पद्मिनी

उपाख्यान' में स्वदेशप्रीति और स्वाधीनताप्रीति दिखायी पड़ती है। यद्यपि रंगलाल अपने युगचिन्तन के अनुरूप अंग्रेजों की कृपा से ही भारत का भाग्योदय मानते हैं और आशा करते हैं कि अब दुख विभावरी और निद्रा की तन्द्रा समाप्त हो जायेगी तथा मानस उदयाचल में ज्ञानभानु की प्रभा प्रचारित होगी—

भारतेर भाग्य जोर दुःख विभावरी भोर,
घुमघोर थाकिबे कि आर ?
इंगराजेर कृपा बले मानस उदयाचले,
ज्ञान भानु प्रभार प्रचार ।।

यही नहीं करुणामय से उनकी प्रार्थना है कि विद्रोह वारिद से अब विष की वर्षा कभी न हो —

हे विभो करुणामय ! विद्रोह वारिदचय
आर येन विष ना वरिषे ।।

यह 'विद्रोह वारिद' सिपाही विद्रोह की ओर ही संकेत करता है। यही रंगलाल 'पद्मिनी उपाख्यान' में ही वर्णन करते हैं कि स्वाधीनता विहीन हो कर कौन बँचना चाहता है ? दासत्व की शृंखला को पैरों में कौन पहनना चाहता है ? –

स्वाधीनता हीनताय के बाँचिते चाय हे, के बाँचिते चाय ?
दासत्व-शृंखल बल के परिबे पाय हे, के परिबे पाय ?

इस प्रकार का विरोधाभास तत्कालीन कवियों-लेखकों में मिलता है। वे एक ओर स्वाधीनता की कामना करते हैं, दूसरी ओर उन्हें ब्रिटिशराज की प्रशंसा भी करनी पड़ती है, किन्तु भारत की दुरवस्था से वे पूर्णतः परिचित हैं। मैथिलीशरण गुप्त के 'भारत-भारती' में भी यही विरोधाभास दिखायी पड़ता है। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भी विद्रोही सिपाहियों को दुष्ट कहा, किन्तु लक्ष्मी बाई की वीरता की प्रशंसा की। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' (जनवरी १९०४) में 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई' शीर्षक लेख प्रकाशित किया जो दत्तात्रेय बलवन्त पारसनीस द्वारा लिखी हुई मराठी पुस्तक पर आधारित था।

सत्तावन की क्रान्ति और उसके नायकों का गौरवगान तत्कालीन शिष्ट

साहित्य में नहीं मिलता । इसका वर्णन भोजपुरी, बुन्देली, बघेली, अवधी और राजस्थानी आदि के लोकसाहित्य में मिलता है। भगवानदास माहौर तथा पूरणचन्द्र जोशी ने अपने ग्रन्थों में इन लोकगीतों का विवेचन किया है। जैसे-जैसे स्वाधीनता आन्दोलन अग्रसर होने लगा, सत्तावन की क्रान्ति के प्रति शिक्षित समाज भी अत्यधिक रुचि लेने लगा। इसकी चरम परिणति दिखायी पड़ती है सुभद्रा कुमारी चौहान (१९०४-१८४८) की 'झाँसी की रानी' शीर्षक कविता में। सुभद्राजी ने स्वाधीनता आन्दोलन में सक्रिय रूप से भाग लिया था, जेल भी गयी थीं। उन्हें लक्ष्मण सिंह जैसे देशभक्त पति तथा माखनलाल चतुर्वेदी और बालकृष्ण शर्मा नवीन जैसे राष्ट्रभक्त कवियों–पत्रकारों से प्रोत्साहन मिला। झाँसी की रानी की गौरवगाथा की प्रेरणा उन्हें बुन्देलखंड के हरबोलों जैसे लोकगायकों से प्राप्त हुई। इसका स्पष्ट उल्लेख उन्होंने उक्त कविता में किया है –

बुन्देले हरबोलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी ।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी ।।

एक समय यह कविता हिन्दी पढ़ने वाले हर बच्चे को जबानी याद रहती थी और इसी से उन्हें राष्ट्रभक्ति का पाठ मिलता था। यह कविता सत्तावन के संग्राम के पूरे इतिहास को अपने में समेटे हुए है। सुभद्राजी की दृष्टि में सत्तावन का संग्राम केवल विद्रोह नहीं था, वरन् आज़ादी की ललक और फिरंगियों को इस देश से भगाने के दृढ़ संकल्प का परिणाम था। उन्होंने इस संघर्ष को 'वह तलवार पुरानी थी' कह कर भारत की गौरवशाली परम्परा से जोड़ दिया है–

सिंहासन हिल उठे राजवंशों ने, भृकुटी तानी थी ।
बूढ़े भारत में भी आई फिर से नयी जवानी थी ।।
गुमी हुई आज़ादी की कीमत सबने पहचानी थी ।
दूर फिरंगी को करने की सबने मन में ठानी थी ।।
चमक उठी सन् सत्तावन में वह तलवार पुरानी थी ।

इस कविता में सत्तावन की क्रान्ति के सभी प्रमुख वीरों – नाना धुंदुपंत, तात्या टोपे, अजीमुल्ला खान, अहमद शाह मौलवी, ठाकुर कुँवर सिंह का उल्लेख हो गया है।

सुभद्रा कुमारी का स्पष्ट मत है कि यह क्रान्ति किसी बाह्य तात्कालिक कारण का परिणाम नहीं है, वरन् स्वतन्त्रता की यह चिनगारी भारतवासियों के अन्तरतम में प्रज्वलित हुई, जिसमें महलों में रहने वाले राजा-नवाब तथा झोंपड़ी में रहने वाले किसान तथा सामान्य जन सबने भाग लिया। इस क्रान्ति की ज्वाला जहाँ-जहाँ फैली, सुभद्राजी ने उन स्थानों का भी उल्लेख किया है–

महलों ने दी आग झोंपड़ी ने ज्वाला सुलगाई थी ।
यह स्वतंत्रता की चिनगारी अंतरतम से आई थी ।।
झाँसी चेती, दिल्ली चेती, लखनऊ लपटें छाई थीं ।
मेरठ, कानपुर, पटना ने भारी धूम मचाई थी ।।
जबलपुर, कोल्हापुर में कुछ हलचल उकसानी थी ।
बुंदेले हरबोलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी ।।

झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई के बलिदान से स्वाधीनता आन्दोलन को भी प्रेरणा मिली, कृतज्ञ भारतवासी उन्हें हमेशा याद रखेंगे –

जाओ रानी याद रखेंगे हम कृतज्ञ भारतवासी ।
यह तेरा बलिदान जगावेगा स्वतंत्रता अविनाशी ।।

इस अंक में अलपना राय ने रवीन्द्रनाथ के स्वदेशी गीतों की चर्चा की है। रवीन्द्रनाथ के समस्त गीत 'गीतवितान' में संकलित हैं। २००६ में 'गीतवितान' के प्रथम खंड के प्रकाशन के पचहत्तर वर्ष पूरे हुए । 'गीतवितान' में पूजा, स्वदेश, प्रेम, प्रकृति, जातीय संगीत, पूजा और प्रार्थना, आनुष्ठानिक संगीत आदि पर्वों के अन्तर्गत रवीन्द्रनाथ के सभी गीतों का समावेश हुआ है। इस अंक में 'गीतवितान' में संकलित तीन गीतों को अनुवाद सहित प्रस्तुत किया जा रहा है। पहला और दूसरा गीत 'जातीय संगीत' तथा तीसरा गीत 'स्वदेश' पर्व में संकलित है।

—रामेश्वर मिश्र